ॐ

॥ नमः सिद्धेभ्यः ॥

श्री प्रवचनसार-परमागम

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत
परमागम प्रवचनसार एवं उसकी टीकाद्वय पर
आधारित पद्यमयी आध्यात्मिक रचना

रचनाकार :

कविवर श्री वृन्दावनदासजी

संशोधक :

पण्डित नाथूराम 'प्रेमी'

देहरी (सागर)

सम्पादन :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियां, भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

वि. सं. 2077	वी. सं. 2547	ई. सन 2021

—: प्रकाशन तिथि :—
फाल्गुन शुक्ल 2 (15 मार्च 2021)
श्री सीमन्धर भगवान प्रतिष्ठा सोनगढ़ (वि.सं. 1997)
की वार्षिक तिथि के उपलक्ष्य में

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046
www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :
विवेक कम्प्यूटर, अलीगढ़।

प्रकाशकीय

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत महान दार्शनिक ग्रन्थ प्रवचनसार-परमागम एवं उसकी टीकाद्वय पर आधारित कविवर वृन्दावनदासजी द्वारा रचित काव्यमयी श्री प्रवचनसार-परमागम नामक ग्रन्थ का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस ग्रन्थ का सर्व प्रथम प्रकाशन वीर निर्वाण संवत् २४३५ सन् १९०८ में हुआ था। जिसका संशोधन कार्य पण्डित नाथूराम 'प्रेमी' द्वारा किया गया था। तत्पश्चात् इसी ग्रन्थ का पुन: प्रकाशन पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की मंगल उपस्थिति में भगवान महावीरस्वामी के २५००वें निर्वाण महोत्सव के पावन प्रसंग पर सन् १९७४ में ब्रह्मचारी दुलीचन्द जैन ग्रन्थमाला सोनगढ़ द्वारा किया गया था। यह संस्करण अनेक वर्षों से अनुपलब्ध होने से इसका पुन: प्रकाशन किया जा रहा है।

प्रस्तुत संस्करण की यह उल्लेखनीय विशेषता है कि पूर्व संस्करणों में काव्य के साथ मूल गाथा और अर्थ नहीं दिया गया था, जिसे इस संस्करण में दिया जा रहा है। जिससे पाठक प्रवचनसार की मूल गाथा, उसके अर्थ एवं कविवर द्वारा रचित काव्यरचना का स्वाध्याय का लाभ प्राप्त कर सकें।

प्रस्तुत संस्करण का समुचित सम्पादन कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां द्वारा किया गया है।

सभी जीव दिव्यध्वनि के साररूप प्रस्तुत प्रवचनसार-परमागम के काव्यमयी संस्करण का स्वाध्याय कर आत्महित साधें, यही भावना है।

प्रस्तुत ग्रन्थ www.vitragvani.com पर उपलब्ध है।

ट्रस्टीगण,
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विलेपार्ला, मुम्बई

प्रस्तावना

(प्रथमावृत्ति से)

पाठक महाशय! लीजिये, श्री जिनेन्द्रदेव की कृपा से हम आज वाराणसी निवासी कविवर बाबू वृन्दावनदासजी का 'प्रवचनसार परमागम' लेकर उपस्थित हैं। इसका एक बार आद्योपान्त स्वाध्याय करके यदि आप अपनी आत्मा का कुछ उपकार कर सकें, तो हम अपने परिश्रम को सफल समझेंगे।

इस ग्रन्थ के मूल कर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम संवत् ४९ में नन्दिसंघ के पट्ट पर विद्यमान थे, ऐसा पट्टावलियों से पता लगता है। आपके बनाये हुए ८४ प्राभृत (पाहुड़) ग्रन्थ कहे जाते हैं, जिनमें से इस समय आठ-पाहुड़ उपलब्ध हैं। और पंचास्तिकाय, नाटक समयसार तथा प्रवचनसार ये तीन बहुत प्रसिद्ध हैं। इन तीनों की द्वितीय सिद्धान्त में अथवा द्वितीय श्रुतस्कन्ध में गणना है। और इनमें शुद्ध निश्चयनय को प्रधान मानकर कथन किया है। इस प्राभृतत्रयी में से पंचास्तिकाय और नाटक समयसार छप चुके हैं। केवल प्रवचनसार रह गया था, सो आज यह भी मुद्रित होकर तैयार है। यद्यपि भाषा वचनिका तथा मूल पाठ के बिना इस ग्रन्थ का सर्वांगपूर्ण उद्धार नहीं कहलायेगा तो भी यह नहीं कहा जा सकेगा कि प्रवचनसार प्रकाशित नहीं हुआ है।

इस ग्रन्थ की संस्कृत में दो टीका[१] उपलब्ध हैं, एक [२]श्री अमृतचंदसूरि ने, [३]तत्त्वदीपिका टीका और दूसरी श्री जयसेनाचार्य की टीका। इनमें से तत्त्वदीपिका टीका के आधार से आगरा निवासी स्वर्गीय पण्डित [४]हेमराजजी ने विक्रम संवत् १७०९ में शाहजहाँ बादशाह के राज्यकाल में भाषा-वचनिका बनाई है और

---

१. इन दोनों ही टीकाओं के छपने का प्रबन्ध हो रहा है।

२. श्री कुन्दकुन्दाचार्य के तीनों ग्रन्थ पर श्री अमृतचन्द्राचार्य की टीकाएँ हैं और वे सब प्राप्य हैं। अमृतचन्द्राचार्य संवत् ९६२ में नन्दिसंघ के पट्ट पर विद्यमानथे।

३. यह टीका बम्बई यूनीवर्सिटी में अपने एम.ए. के संस्कृत कोर्स में भरती की है।

१. हेमराजजी ने भी तीनों ग्रन्थों की भाषा-वचनिका बनाई है।

इसी भाषा-वचनिका के आधार से काशी निवासी कविवर वृन्दावनजी ने यह पद्यबद्ध टीका बनाई है। यह टीका उन्होंने संवत् १९०५ में अर्थात् आज से ६० वर्ष पहले पूर्ण की थी।

कविवर वृन्दावनजी का जीवन-चरित्र और उनके ग्रन्थों की आलोचना हमने जैन-हितैषी के गतवर्ष के उपहार ग्रन्थ वृन्दावन-विलास में खूब विस्तार से की है। इसलिए अब उनकी पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। जिन महाशयों को पढ़ने की रुचि हो, वे उक्त ग्रन्थ मँगाकर देख लें।

इस ग्रन्थ को हमने दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार से संशोधन करके छपाया है। जिनमें से एक तो कविवर वृन्दावनजी की स्वयं हाथ की लिखी हुई प्रथम प्रति थी, जो हमें काशी के सरस्वती भण्डार से प्राप्त हुई थी और दूसरी करहल निवासी पण्डित धर्मसहायजी के द्वारा प्राप्त हुई थी। यह दूसरी प्रति भी पहली के समान प्राय: शुद्ध है और शायद पहली प्रति पर से ही नकल की हुई है।

कविवर वृन्दावनजी की लेखन-शैली आदि से अन्त तक एक सी नहीं मिलती। उन्होंने एक ही शब्द को कई प्रकार से लिखा है। मैं में, हैं हें, तें तैं तै, कै के, नहिं नहि नहीं, होहिं होहिं होहि, सों सौं, त्यों त्यौं, कह्यो कह्यौ, विषै विषैं विषें, आदि जहाँ जैसा जीमें आया है इस प्रकार लिखा है। जान पड़ता है कि ऐसे शब्दों के लिखने का उन्होंने कोई नियम नहीं बनाया था, विकल्प से वे सबको शुद्ध मानते थे। उनके लेख में श, ष और स की भी ऐसी गड़बड़ थी। जहाँ कविता के अनुप्रासादि गुणों का कोई प्रतिबन्ध नहीं था, वहाँ उन्होंने शुद्ध शब्द पर ध्यान देकर आकारादि का प्रयोग नहीं किया है। सर्वत्र इच्छानुसार ही किया है। वर्तमान लेखन शैली से विरुद्ध होने के कारण हमने ऐसे स्थानों में जहाँ कि तुकान्त अनुप्रासादि की कोई हानि नहीं होती थी, शुद्ध शब्दों के अनुसार ही शकार सकार का संशोधन कर दिया है। तें तैं के कैं आदि के संशोधन कहीं कहीं मूल प्रति के समान ही विकल्प हो गये हैं, तो भी जहाँ तक हमसे बन पड़ा है आदि से अन्त तक एक ही प्रकार से लिखा है।

कविवर की भाषा में जहाँ-तहाँ पुलिंग के स्थान में स्त्रीलिंग का प्रयोग

किया गया है। सो भी ऐसी जगह जहाँ हमारे पाठकों को अटपटा जान पड़ेगा। हमारे कई मित्रों का कथन था कि, इसका संशोधन कर देना चाहिए परन्तु हमने इसे अच्छा न समझा। ऐसा करने से ग्रन्थकर्ता के देश की तथा समय की भाषा का क्या रूप था, इसके जानने का साधन नष्ट हो जाता है। संशोधन कर्ता का यही कार्य है कि वह दो-चार प्रतियों पर से लेखकों की भूल से जो अशुद्धियाँ हो गई हैं, उनका संशोधन कर देवे। यह नहीं कि, मूल कर्ता की कृति में ही फेरफार कर डाले। खेद है कि, आजकल बहुत से ग्रन्थप्रकाशक इस नियम पर बिल्कुल ध्यान नहीं देते हैं।

पहले यह ग्रन्थ मूल, संस्कृत टीका और भाषा-वचनिका के साथ छापने के लिये श्री रायचन्द जैन शास्त्रमाला के प्रबन्धकर्ताओं ने लिखवाया था। परन्तु जब टीका तैयार न हो सकी और शास्त्रमाला के दूसरे संचालक की इच्छा इसे प्रकाशितकरने की न दिखी, तब इसे पृथक् छपाने का प्रबन्ध किया गया। केवल गाथा और उनकी संस्कृत छाया देने से संस्कृत नहीं जाननेवाले को कुछ लाभ नहीं होगा, ऐसा सोचकर इसमें केवल मूल गाथाओं का नम्बर दे दिया है। इससे जो लोग मूल ग्रन्थ तथा संस्कृत टीका से अर्थ समझना चाहेंगे, उन्हें लाभ होगा।

इस ग्रन्थ की टीकाओं में प्रत्येक गाथा के प्रारम्भ में शीर्षक के रूप में छोटी-छोटी सी उत्थानिकायें हैं। यदि वे इसके साथ लगा दी जातीं, तो बहुत लाभ होता। परन्तु ग्रन्थ के कई फार्म छप चुकने पर यह बात हमारे ध्यान में आई, इसलिए फिर कुछ न कर सके। पाठकगण इसके लिए हमें क्षमा करेंगे। यदि कभी इसकी दूसरी आवृत्ति प्रकाशित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, तो यह त्रुटि पूर्ण कर दी जाएगी, परन्तु जैन समाज में ग्रन्थों का इतना आदर ही कहाँ है, जो ऐसे ग्रन्थों की दूसरी आवृत्ति की आशा की जावे।

हम ऊपर कह चुके हैं कि यह ग्रन्थ मूल ग्रन्थ का अनुवाद नहीं, किन्तु टीका का पद्यानुवाद अथवा पद्यमयी टीका है। इसमें पण्डित हेमराजजी की वचनिका का प्राय: अनुवाद किया गया है। कहीं-कहीं तो वचनिका का एक शब्द भी नहीं छोड़ा है। हमारी इस बात पर विश्वास करने के लिये पाठकों को

तीसरे अधिकार की २३वीं गाथा की कविता पण्डित हेमराजजी की वचनिका से देखना चाहिए। वचनिका के साथ इस अनुवाद के दो–चार स्थान मिलाकर दिखाने और उनकी आलोचना करने का हमारा विचार था, जिससे यह ज्ञात हो जाता कि कविवर वृन्दावनजी ने मूल ग्रन्थ के तथा टीकाओं के अभिप्रायों को कहाँ तक समझकर यह अनुवाद किया है। परन्तु खेद है कि अवकाश न मिलने से यह विचार मन का मन में ही रह गया।

इस ग्रन्थ में शुद्ध निश्चयनय का कथन है। इसलिए इस ग्रन्थ के स्वाध्याय करने के अधिकारी वे ही लोग हैं, जो जैनधर्म के निश्चय और व्यवहारमार्ग के मर्मज्ञ हैं। व्यवहार और निश्चय का स्वरूप समझे बिना इस ग्रन्थ के पाठक अर्थ का अनर्थ कर सकते और उनकी वही गति हो सकती है, जैसी समयसार के अध्ययन से बनारसीदासजी की हुई थी। अतएव पाठकों को चाहिए कि नयमार्ग का भलीभाँति विचार करके इसका स्वाध्याय करें, जिसमें आत्मा का यथार्थ कल्याण हो।

इस ग्रन्थ के संशोधन में जहाँ तक हमसे हो सका है, किसी प्रकार की त्रुटि नहीं की है, तो भी भूल होना मनुष्य के लिये एक सामान्य बात है। इसलिए यदि कुछ अशुद्धियाँ रह गई हों, तो विशेषज्ञों को सुधार करके पढ़ना चाहिए। और हम पर क्षमाभाव धारण करना चाहिए। अलमितविस्तरेण विज्ञेषु–

बम्बई
१०–१०–१९०८

सरस्वती सेवक–
नाथूराम प्रेमी
देवरी (सागर) निवासी

भक्तकवि वृन्दावनदास : एक परिचय

भक्तकवि पण्डित वृन्दावनदासजी का जन्म वि.सं. १८४८ माघ शुक्ल चतुर्दशी, सोमवार, पुण्य नक्षत्र में जिला शाहबाद के बारा नामक ग्राम में हुआ था। आप गोयल गोत्री अग्रवाल थे। सं. १८६० में श्री वृन्दावनदास बारह वर्ष की अवस्था में काशी आ गये थे। काशी में काशीनाथ आदि विद्वानों की संगति से आध्यात्मिक और वैचारिक विकास प्राप्त हुआ। वे स्वभाव से शान्त एवं सरलता की प्रतिमूर्ति थे। जीवन के अन्तिम वर्षों में भगवान के प्रेम में इतनी तन्मयता थी कि बाह्य वेशभूषा की परवाह नहीं रही। केवल एक कोपीन और चादर से ही काम चलने लगा। पैरों में जूते भी न रहे।

कवि में अनुवाद की प्रतिभा थी। पन्द्रह वर्ष की अवस्था से ही उन्होंने श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित प्रवचनसार का श्री अमृतचन्द्रसूरि की संस्कृत टीका तथा पाण्डे श्री हेमराजजीकृत भाषा-टीका के अनुसार पद्यानुवाद करना प्रारम्भ कर दिया था। यह मूल ग्रन्थ का हू-ब-हू अनुवाद है। कविश्री ने इस ग्रन्थ के प्रणयन में जितना परिश्रम किया, उतना अन्य ग्रन्थों में नहीं। इसे पहली बार सन् १८६३ में प्रारम्भ कर संवत् १९०५ में तीसरी बार पूर्ण किया। इस प्रकार इसमें कवि की ४२ वर्षों की साधना का नवनीत और अनुभव का निचोड़ भरा गया है।

डॉ. नरेन्द्र भानावत

–: अनुक्रमणिका :–

अध्याय		पाठ
	पीठिका	१
१.	ज्ञानाधिकार	१२
२.	सुखाधिकार	६७
३.	ज्ञानतत्त्वाधिकार	८१
४.	ज्ञेयतत्त्वाधिकार	१०३
५.	विशेष ज्ञेयतत्त्वाधिकार	१४२
६.	व्यावहारिक जीव तत्त्वाधिकार	१६७
७.	चारित्राधिकार	२१५
८.	एकाग्ररूप मोक्षमार्गाधिकार	२५१
९.	शुभोपयोगरूप मुनिपदाधिकार	२६७
१०.	पंचरत्न तत्त्वस्वरूप	२९०
११.	कवि व्यवस्था तथा वंशावली आदि	२९७

ॐ नमः सिद्धेभ्यो
ॐ नमोऽनेकान्तवादिने जिनाय

* पीठिका *

मंगलाचरण–षट्पद

(नोंध :- यह छह पंक्तियाँ (षट्पद) पंडित हेमराजजी कृत हैं।)

सिद्धि सदन बुद्धिवदन, मदनमद कदन दहन रज।
लब्धि लसन्त अनन्त, चारु गुणवंत संत अज।।

दुविधि धरमविधि कथन, अविधि–तम–मथन–दिवाकर।
विघ्न निघ्नकरतार, सकल–सुख–उदय–सुधाधर।।

– मंगलाचरणपूर्वक कविवर का प्रारम्भ –

शतइन्द्रवृन्दपदवंद भव, दन्द फन्द निःकन्द कर।
अरि शोष–मोक्षमग–पोष निर–दोष जयति जिनराज वर।।१।।

दोहा

सिद्ध शिरोमनि सिद्धपद, शुद्धचिदातम भूप।
ज्ञानानन्द सुभावमय, वन्दन करहुं अनूप।।२।।

---

* **अय श्री प्रवचनसारपरमागम अध्यात्मविद्या श्रीमद्कुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल गाथा ताकी संस्कृत टीका श्री अमृतचन्द्राचार्य की है ताकी देशवचनिका पाण्डे हेमराजजी ने रची है। ताही के अनुसारसों वृन्दावन छन्द लिखै है (प्रथम प्रति)।**

नमों देव अरहंत को, सहित अनंत चतुष्ट।
दोष रहित जो मोक्ष-मग, भाखि करत सुख पुष्ट।।३।।

आचारज उवझाय मुनि, तीनों सुगुरु मनाय।
शिवमग साधत जतनजुत, वंदों मनवचकाय।।४।।

सीमंधर को आदि जे, तीर्थंकर जिन वीस।
अब विदेह में हैं तिन्हैं, नमों समवसृतईश।।५।।

वानी खिरत त्रिकाल जसु, सुनहिं सकल चँहुँसंग।
केई मुनिव्रत अनुव्रत, धारहिं पुलकित अंग।।६।।

केई सहज सुभाव में, लीन होय मुनिवृन्द।
तीनों जोग निरोधि के, पावैं सहजानन्द।।७।।

वृषभादिक चौवीस जे, वर्तमान तीर्थेश।
तिनको वंदत वृंद अब, मेटो कुमति कलेश।।८।।

वृषभसेन को आदि जे, अन्तिम गौतमस्वामि।
चौदहसै त्रेपन सुगुरु, गणधरदेव नमामि।।९।।

अनेकान्तवानी नमों, वर्जित सकल बिरोध।
वस्तु जथारथ सिद्धिकर, डारत मन-मल शोध।।१०।।

जोई केवलज्ञान है, स्यादवाद है सोय।
भेद प्रत्यक्ष परोक्ष को, वरतत है भ्रम खोय।।११।।

वस्तु अनन्त धरममयी, स्याद्वाद के रूप।
सो इकंत सों सधत नहिं, यों भाखी जिनभूप।।१२।।

जेते धरम तिते पृथक्, गहें अपेक्षा सिद्ध।
रहित अपेक्षा सधत नहिं, होत विरुद्ध असिद्ध।।१३।।

सहित अपेक्षा जो वचन, सो सब वस्तुस्वरूप।
रहित अपेक्षा जो वचन, सो सब भ्रमतमकूप।।१४।।

अनेकान्त एकान्त की, इतनी है पहिचान।
एक पक्ष एकान्त मत, अनेकान्त सब थान।।१५।।

अनेकान्त मत की यहाँ, वरतै नहिं एकान्त।
अनेकान्त हू है यहाँ, अनेकान्त निरभ्रान्त।।१६।।

सम्यग्ज्ञान प्रमान है, नय है ताके अंग।
साधनसाध्य दशाविषैं, इनकी उठत तरंग।।१७।।

वस्तुरूप साधन विषैं, करत प्रमान प्रवेश।
नय के द्वारन वरनियत, ताके सकल विशेष।।१८।।

लक्ष्यविषें जो वसत नित, लक्षण ताको नाम।
जाके द्वार विलोकिये, लक्ष्य अबाध ललाम।।१९।।

इत्यादिक जे न्याय-मग, नय निक्षेप विधान।
जिनवाणी सों मिलत सब, स्व-पर भेदविज्ञान।२०।।

तातें जिनवानी नमों, अभिमतफल दातार।
मो मनमन्दिर में सदा, करो प्रकाश उदार।२१।।

द्रुमिलावृत। (आठ सगण)

सब वस्तु अनन्त गुनातमको, जु यथारथरूप सुसिद्ध करै।
परमान नयौर निक्षेपदशा करि, मोहमहाभ्रमभाव हरै।।

जसु आदिसु अन्त विरोध नहीं, नित लक्षण स्याद सुवाद धरै।
वह श्री जिनशासन को भवि वृन्द, अराधत प्रीति प्रतीति भरै।।२२।।

दोहा

पुनि प्रनमों परब्रह्ममय, पंच परमगुरु रूप।
जासु ध्यान से पाइये, सहज सुखामृत कूप।२३।।

[१]आदि अकार हकार सिर, रेकनाद जुतबिन्दु।
सिद्धवीज जपि सिद्धिप्रद, पूरन शारदइन्दु।।२४।।

[२]माया वीज नमो सहित, पंचवरन अभिराम।
मध्य वीज अरहंत जसु, स्वधा सुधारस धाम।२५।।

निजघट-क्षीर समुद्रमधि, मन अंबुज निरमाप।
वर्ग पत्र प्रति मध्य तसु, श्री अरहंत सुथाप।।२६।।

स्वासोस्वास निरोधि के, पूरनचन्द्र समान।
करे ध्यान भवि वृन्द जहँ, झरत सुधा अमलान।।२७।।

पुनि वाचक इहि वरन को, शुद्धब्रह्म अरहन्त।
सहित अनन्त चतुष्ट तिहिँ, ध्यावो थिर चित्त संत।।२८।।

इमि दृढतर अभ्यास करि, पुनि तिहि सम निजरूप।
ध्यावो एकाकार थिर, तवहिँ होहु शिवभूप।।२९।।

ये ही मंगलमूल, जग सर्वोत्तम हैं येह।
इनकी शरनागत रहो, उर घरि परम सनेह।।३०।।

१- अहँ।२- ह्रीं।

सत्यार्थ मोक्षमार्ग प्रवृत्ति का कथन।

श्रीमत वीर जिनिंद जब, किन्हों शिवपुर गौन।
तब इत वासठ वरस लगि, खुल्यो रह्यो शिव भौन।।३१।।

गौतम स्वामी शिव गये, फेरि सुधर्म्मास्वाम।
पुनि जम्बू स्वामी लही, मुक्तिधाम अभिराम।।३२।।

ऐसे पंचम काल में, वासठ वरस प्रमान।
रह्यो केवलज्ञान इत, भ्रमतम-भंजन-भान।।३३।।

ता पीछें श्रुतकेवली भये पञ्च परधान।
वरण एक शत के विषें, पूरन ज्ञाननिधान।३४।।

तिल पीछेसों एकसौ, त्र्यासी वरण मझार।
ग्यार अंग दशपूर्व धर, भये ग्यान अनगार।।३५।।

वरस दोय सौ बीस में, तिन पीछे मुनि पञ्च।
भये इकादश अंग के, पाठी समकित संच।।३६।।

तिस पीछे सों एक सौ, ठारे वरण मझार।
चार भये अनगार वर, एक अंग के धार।।३७।।

श्री जैन सिद्धान्तों की रचना सम्बन्धी कथन

कवित्त छन्द (३१ मात्रा)

भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवलि, जब लग रहे यहां परधान।
तब लग द्वादशांग शासन को, रह्यो प्ररूपन पूरनज्ञान।।
तरै निश्चय व्यवहाररूप जो, शिवमारग का सुखद विधान।
सो परिवर्तन रह्यो जथारथ, यों भवि वृन्द करो श्रद्धान।।३८।।

तिस पीछे इत काल दोष तें, अंग ज्ञान की भई विछित्ति।
तब कितेक मुनि शिथिलाचारी, भये किई तिन पृथक् प्रवृत्ति।।
तिनसों श्वेताम्बर मत प्रगट्यो, रचे सूत्र विपरीत अहित।
सो अब ताईं प्रगट देखियत, यह विरोध मारग की रित्त।।३९।।

दोहा

अब वरनों जिहि भांति इत, रह्यो जथारथ पन्थ।
श्री जिनसूत्र प्रमाण करि, सुखददशा निरग्रन्थ।।४०।।

चोपाई

जे जिनसूत्र सीख उर धारी, रहे आचरन करत उदारी।
तिनकी रही जथारथ चरिया, तथा प्ररूपन श्रुत अनुसरिया।।४१।।

तेई परम दिगम्बर जानो, साँचे ग्रन्थ पन्थ ठहरानो।
वर्धमान शिवथान लहीते, छसौ तिरासी वरष वितीते।।४२।।

दूजे भद्रबाहु आचारज, प्रगटे तिहि मगमें गुनआरज।
तिनकी परिपाटी में भाई, किते वरष पीछे मुनिराई।।४३।।

जिन सिद्धान्तन की परिवृत्ती, करी जाहि विधि सुनो सुवृती
[१]जयशशि रचित वचनिका पावन, समयसारते लिखों सुहावन।४४।।

दोहा

एक भये धरसेन गुरु, तिनको सुनो वखात।
जैसो ज्ञान रह्यो तिन्हें, श्रुतपथतें परमान।।४५।।

करखा छन्द (मात्रा ३७)

अग्रणीपूर्वकै, पांचवें वस्तु का, महाकरमप्रकृति, नाम चौथा।
इस पराभृत का, ज्ञान तिनको रहा, यहां लग अंग का, अंश तौ था।।

१– पण्डित जयचन्द्रजी कृत समयसार की भाषा टीका।

सो पराभृत को भूतबलि पुष्पदन्त,
दोय मुनि को सुगुरु ने पढ़ाया।
तास अनुसार, षटखण्ड के सूत्र को,
बांधि के पुस्तकों में मढ़ाया।।४६।।

फिर तिसी सूत्र को, और मुनिवृन्द पढि,
रची विस्तार सों तासु टीका।
धवल महाधवल जयधवल आदिक सु-
सिद्धान्तवृत्तान्तपरमान टीका।।

तिन हि सिद्धान्त को, नेमिचन्द्रादि-
आचार्य, अभ्यास करिके पुनीता।
रचे गोम्मटसारादि बहु शास्त्र यह
प्रथम सिद्धान्त-उत्पत्ति-गीता।।४७।।

दोहा।

जीव करम संजोग से, जो संसृति परजाय।
तासु सुगुरु विस्तार करि, इहां रूप दरसाय।।४८।।

गुणथानक अरु मार्गना, वरनन कीन्ह दयाल।
भविजन के उद्धार को, यह मग सुखद विशाल।।४९।।

कवित्त छन्द (३१ मात्रा)

पर्यायार्थिक नय प्रधान कर, यहाँ कथन कीन्हो गुरुदेव।
याही को अशुद्धद्रव्यार्थिक, नय कहियत है यों लखिलेव।।

तथा अध्यातमीक भाषा करि, यह अशुद्ध निहचै नय मेव।
तथा याहि विवहारहु कहिये, यह सब अनेकान्त की टेव।।५०।।

द्वितीय सिद्धान्तोत्पत्ति (कवित्त छन्द)

बहुरि एक गुणधर नामा मुनि, भये तिसी पथ में परधान।
तिनको ज्ञानप्रवादपूर्व का, दशम वस्तु का त्रितिय विधान।।

तिस प्राभृत का ज्ञान रहा तब, तिनसों नागहस्ति मुनि जान।
तिन दोउनतें यतिनायक मुनि, तिस प्राभृत को पढ़ा निदान।।५१।।

तब यतिनायक सुगुरु कृपाकर, तिसही प्राभृत के अनुसार।
सूत्र चूर्णिकारूप रचा सो, छह हजार का शास्त्र उदार।।

ताकी टीका समुद्धरन गुरु, रची सु बारह सहस विचार।
यों आचारज परम्परातें, कुन्दकुन्द मुनि ताहि निहार।।५२।।

दोहा

इस सिद्धान्तरहस्य के, कुन्दकुन्द गुरुदेव।
रसिक भये ज्ञाता भये, नमो तिन्हे वसुभेव।।५३।।

यों दुतीय सिद्धान्त की, है उतपत्ति पुनीत।
परिपाटी परमान करि, लिखी इहां निरनीत।।५४।।

मनहरण (३१ वर्ण)

यामें ज्ञान को प्रधान करिके प्रगटपने,
शुद्ध दरबारथीक नय को कथन है।
अध्यातमबानी आतमा को अधिकार यातें,
याको शुद्ध निश्चैनय नाम हू कथन है।।

तथा परमारथ हू नाम याको जथारथ,
इहां परजाय नय गौनता गथन है।
परबुद्धित्यागी जो स्वरूप शुद्ध ही में रमें,
सोई कर्म नाश शिव होत यों मथन है।।५५।।

कवित्त

या प्रकार गुरुपरम्परातें, मह दुतीय सिद्धान्त प्रमान।
शुद्ध सुनय के उपदेशक इत, शास्त्र विराजत हैं परधान।।

समयसार पंचास्तिकाय श्री, प्रवचनसार आदि सुमहान।
कुन्दकुन्दगुरु मूल बखानें, टीका अमृतचन्द्रकृत जान।।५६।।

कवि प्रार्थना

तामें प्रवचनसार की, बांचि वचनिका मंजु।
छन्दरूप रचना रचों, उर धरि गुरुपदकंजु।।५७।।

कहँ परमागम अगम यह, कहँ मम मति अतिहीन।
शशि सपरश के हेतु जिमि, शिशु कर ऊंचौ कीन।।५८।।

तिमि मन निरख सुधीरता, हँसि कहिहैं परवीन।
काक चहत पिक-मधुर-धुनि, मूक चहत कवि कीन।।५९।।

चौपाई

यह परमागम आगम बताई। मो मति अल्प रचत कविताई।
सो लख हँसि कहि हैं मति धीरा। शिरिष सुमन करि वेधत हीरा।।६०।।

दोहा

बाल मराल चहै जथा, मन्दिर मेरु उठाव।
बालबुद्धि भवि वृन्द तिमि, करन चहत कवितात्र।।६१।।

पूरव सुकवि सहायतें, जिनशासन की छाँहिं।
हुं यह साहस कीन है, सुमरि सुगुरु मानमांहिं।।६२।।

मूलग्रन्थ अनुसार जो, भाषा बनै प्रबंध।
तौ उपमा सांची फवै, सोना और सुगंध।।६३।।

चौपाई

मैं तो बहुत जतन चित राखी। रचिहों छंद जिनागम शाखी।
पै प्रमादतें लखि कहूँ दूषन। शोधि शुद्ध कीजे गुनमूषन।।६४।।

दोहा

सज्जन चाल मगल सम, औगुन तज गुन लेत।
[१]शारदवाहन वारि तज, ज्यों पयपान करेत।।६५।।

षट्पद

जब लगि वस्तु विचार करत, कवि काव्य करनहित।
तब लगि विषयविकार रुकत, शुभध्यान रहत चित।।
ऐसे निजहित जन, बहुरि जब जग में व्यापत।
तब जे वाँचहिं सुनहिं, तिन्हें है ज्ञान पगपत।।
यों निज पर को हित हेतु लखि, वृन्दावन उद्यम करत।
परमागम प्रवचनसार की, छंदबद्ध टीका धरत।।६६।।

प्रवचनसार ग्रन्थ स्तुति

नय नय अनेकान्त दुतिधार। पय पय सुपरबोध करतार।
लय लय करत [२]सुधारस धार। जय जय सो श्रीप्रवचनसार।।६७।।

अरिल्ल छन्द

द्वादशांग को सार जु सुपरविचार है।
सो संजमजुत गहत होत भवपार है।।
तासु हेत यह शासन परम उदार है।
यातें प्रवचनसार नामनिरधार है।।६८।।

❀ ❀ ❀

१- हंस। २- दूसरी प्रति में 'समामृत' पाठ है।

मूलग्रन्थकर्ता श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य की स्तुति

अशोकपुष्पमंजरी

जासके मुखारविंदतें प्रकाश भास वृन्द।
स्यादवाद जैन वैन इन्दु कुन्दकुन्द से।।

तासके अभ्यासतैं विकास भेदज्ञान होत।
मूढ सो लखै नहीं कुबुद्धि कुन्दकुन्द से।।

देत हैं अशीस शीस नाय इन्द्र चन्द्र जाहि।
मोह-मार-खण्ड मारतण्ड कुन्दकुन्द से।।

शुद्धबुद्धिवृद्धिदा प्रसिद्धिरिद्धिसिद्धिदा।
हुए, न हैं, न होंहिंगे, मुनिन्द कुन्दकुन्द से।।६९।।

इति भूमिका

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

काशीनिवासी कविवरवृन्दावनविरचित

प्रवचनसार

[1]मंगलाचरण (षट्पद)

स्वयं सिद्धिकरतार, करै निज कर्म शर्मनिधि।
ओपै करण स्वरूप, होय साधन सोधै विधि।।
संप्रदानता धरै, आपको आप समप्पै।
अपादानतें आप, आपको थिर कर थप्पै।।
अधिकरण होय आधार निज, वरतै पूरणब्रह्म पर।
इमि षट्विधिकारकमय रहित, विविध एक विधि अज अमर।।१।।

दोहा

महततत्त्व महनीय मह, [2]महाधाम गुणधाम।
चिदानन्द परमात्मा, बंदौं रमताराम।।२।।

कुनयदमनि सुवचन अवनि, रमन स्यातपद शुद्धि।
जिनवानी मानी [3]मुनिप, घट में करहु सुबुद्धि।।३।।

चौपाई

पंच इष्ट पद के पद वन्दों। सत्यरूप गुरुगुण अभिनन्दों।
प्रवचनसार ग्रंथ की टीका। बालबोध भाषामय नीका।।४।।

१– यह प्रथम मंगलाचरण षट्पद पण्डित हेमराजजी कृत है।
२– तेज। ३– मुनिराज।

रचौं आप पर को हितकारी। भव्य जीव आनन्द विभारी।
प्रवचन जलधि अर्थ जल लैहै। मति-भासन-समान जल पैहै।।५।।

दोहा

अमृतचन्द्रकृत संस्कृत, टीका अगम अपार।
तिन अनुसार कहौं कछू, सुगम अल्प विसतार।।६।।

(१)

गाथा १ से ५ तक मंगलाचरण सहित नमस्कार तथा चारित्र का फल

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं।।१।।
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे।।२।।
ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ।।३।।
किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेवि सव्वेसिं।।४।।
तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ।।५।। [पणगं]

अर्थात् यह मैं जो सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों से वन्दित हैं तथा जिन्होंने घाति कर्ममल को धो डाला है ऐसे तीर्थरूप और धर्म के कर्ता श्री वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करता हूँ।

और विशुद्ध सत्तावाले शेष तीर्थंकरों को सर्व सिद्धभगवन्तों के साथ ही, और ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार युक्त श्रमणों को नमस्कार करता हूँ।

उन-उन सबको तथा मनुष्य क्षेत्र में विद्यमान अरहन्तों को साथ ही साथ - समुदायरूप से और प्रत्येक प्रत्येक को-व्यक्तिगत वन्दना करता हूँ।

इस प्रकार अरहन्तों को सिद्धों को आचार्यों को उपाध्ययवर्ग को और सर्व साधुओं को नमस्कार करके उनके विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधान आश्रम को प्राप्त करके मैं साम्य को प्राप्त करता हूँ जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है।

(१)

मतगयन्द

श्रीमत वीर जिनेश यही, तिनके पद वंदत हौं लवलाई।
वन्दत वृन्द सुरिन्द जिन्हें, असुरिन्द नरिन्द सदा हरषाई।।
जो चउ घातिय कर्म महामल, धोह अनन्त चतुष्टय पाई।
धर्म दुघातम के करता प्रभु, तीरथरूप त्रिलोक के राई।।७।।

चौपाई

वरतत है शासन अब तिनको। उचित प्रनाम प्रथम लिख तिनको।
कुन्दकुन्द गुरु वन्दन कीना। स्यादवादविद्या परवीना।।८।।

(२)

मनहरण

शेष तीरथेश वृषभादि आदि तेईस औ,
सिद्ध सर्व शुद्ध बुद्धि के करण्डवत हैं।
जिनको सदैव सदभाव शुद्ध सत्ता ही में,
तारतरन को तेई तरण्डवत हैं।।
आचारज उवझाय साधु के सुगुन ध्याय,
पंचाचारमांहि वृन्द जे अखण्डवत है।
येई पंच पर्म इष्ट देत हैं अभिष्ट शिष्ट,
तिनें भक्ति भावसों हमारी दण्डवत है।।९।।

दोहा

देव सिद्ध अरहन्त को, निज सत्ता आधार।
सूर साधु उवझाय थित, पंचाचारमझार।।१०।।

ज्ञान दरश चारित्र तप, वीरज परम पुनीत।
येही पंचाचार में, विचरहिं श्रमण सनीत।।११।।

(३)

अशोकपुष्पमंजरी

पंच शून्य पंच चार योजन प्रमान जे,
मनुष्यक्षेत्र के विषै जिनेश वर्तमान हैं।
तासके पदारविंद एक ही सु वार वृन्द,
फेर भिन्न भिन्न वन्दि भव्य-अव्ज-भान हैं।
वर्तमान भर्त में अबै सुवर्तमान नाहिं,
श्रीविदेहथान में सदैव राजमान हैं।
द्वैत औ अद्वैतरूप वन्दना करौं त्रिकाल,
सो दयाल देत रिद्धि सिद्धि के निधान हैं।।१२।।

दोहा

आठौं अंग नवाइकै, भूमें दण्डाकार।
मुखकर सुजस उचारिये, सो वन्दन विवहार।।१३।।

निज चैतन्य सुभावकरि, तिनसों है लवलीन।
सो अद्वैत सुवन्दना, भेदरहित परवीन।।१४।।

(४)

माधवी

करि वन्दन देव जिनिन्दन की, ध्रुव सिद्ध विशुद्धन को उर ध्यावों।
तिमि सर्व गनिन्द गुनिन्द नमों, उदघाट कपाटक ठाट मनावों।।

मुनि वृन्द जिते नरलोकविषें, अभिनन्दित ह्वै तिनके गुन गावों।
यह पंच पदस्त प्रशस्त समस्त, तिन्हें निज मस्तक हस्त लगावों।।१५।।

(५)

इनके विसराम को धाम लसै, अति उज्ज्वल दर्शनज्ञान प्रधाना।
जहं शुद्धुपयोग सुधारस वृन्द, समाधि समृद्धि की वृद्धि वखाना।।
तिहि को अवलंवि गहों समता, भवताप मिटावन मेघ महाना,
जिहितें निरवान सुथान मिलै, अमलान अनूपम चेतन वाना।।१६।।

(६)

दो प्रकार–चारित्र और फल

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो।।६।।

अर्थात् जीव को दर्शनज्ञानप्रधान चारित्र से देवेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्र के वैभवों के साथ निर्वाण प्राप्त होता है। (जीव को सरागचारित्र से देवेन्द्र इत्यादि के वैभवों की और वीतरागचारित्र से निर्वाण की प्राप्ति होती है।)

चौबोला

जो जन श्री जिनराजकथित नित, चित्तविषें चारित्त धरै।
सम्यकदर्शनज्ञान जहाँ, अमलान विराजित जोति भरैं।।
सो सुर इन्द वृन्द सुख भोगै, असुर इन्द को विभव वरै।
होय नरिंद सिद्धपद पावै, फेरि न जग में जन्म धरै।।१७।।

(७)

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।७।।

अर्थात् चारित्र वास्तव में धर्म है। जो धर्म है वह साम्य है ऐसा (शास्त्रो में) कहा है। साम्य मोहक्षोभरहित ऐसा आत्मा का परिणाम (भाव) है।

सत्यचारित्र

निहचै निज सुभाव में थिरता, तिहि चरित कहैं धरम है।
सोई पर्म धर्म समतामय, यो सर्वज्ञ कृपाल महै।।
जामें मोह क्षोभ नहिं व्यापत, चिद्विलास दुति वृन्द गहै।
सो परिनामसहित आतम को, शाम नाम अभिराम अहै।।१८।।

दोहा

चिदानन्द चिद्रूप को, परम धरम शमभाव।
जामें मोह न राग रिस, अमल अचल थिर भाव।।१९।।

सोई विमल चरित्र है, शुद्ध सिद्धपदहेत।
शामसरूपी आतमा, भविक वृन्द लखि लेत।।२०।।

(८)

आत्मा ही चारित्र है

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो।।८।।

अर्थात् द्रव्य जिस समय जिस भावरूप से परिणमन करता है उस समय उस मय है ऐसा (जिनेन्द्र देव ने) कहा है; इसलिए धर्मपरिणत आत्मा को धर्म समझना चाहिए।

सवैया छन्द

जब जिहि परनति दरव परनमत, तव तासों तन्मय तिहि काल।
श्री सर्वज्ञकथित यह मारग, मथित गुरु गनधर गुनमाल।।
तातैं धरम स्वभाव परिनवत, आतमहू का धरम सम्हाल।
धरमी धरम एकता नय की, इहां अपेक्षा वृन्द विशाल।।२१।।

दोहा

वीतराग चारित्र है, परम धरम निजरूप।
ताके धारत जीव को, धर्म कह्यो जिनभूप।।२२।।

एक एक धरमी विषैं, वसत अनन्ते धर्म।
मिलत न काहूसों कोई, यह सुभावगति पर्म।।२३।।

जब धरमी जिहि धरम की, प्रनवत जुत निज शक्त।
जब तासों तन्मय तहां, होत शक्ति करि व्यक्त।।२४।।

तातें आतमराम जब, धरै शुद्ध निज धर्म।
तब ताहू को नाम गुरु, कह्यो धर्म तजि भर्म।।२५।।

[१]अयमय गोला अगनितें, लाल होत जिहि काल।
अनल ताहि तव सब कहत, देखो बुद्धि विशाल।।२६।।

तैसे जिन जिन धर्म करि, प्रणवहि वस्त समस्त।
तन्मय तासों होहिं तब, यह सुभाव अनअस्त।।२७।।

अग्नि पृथक गोला पृथक, यह सजोग सम्बन्ध।
त्यों धर्मी अरु धर्म में, भेद नहीं है खंध।।२८।।

१- लोहमयी।

सिख संबोधन को सुगुरु, देत विदित दृष्टान्त।
एकदेश सो व्यापता, सुनों भविक तजि भ्रान्त।।२९।।

धर्मी धर्म दुहून को तादात्मक सम्बन्ध।
है प्रदेश प्रति एकता, सहज सुभाव असंघ।।३०।।

(९)

जीव के परिणाम–उपयोग में तीन प्रकार

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो।।९।।

अर्थात् जीव परिणामस्वभावी होने से जब शुभ या अशुभ भावरूप परिणमन करता है, तब शुभ या अशुभ (स्वयं ही) होता है, और जब शुद्धभावरूप परिणमित होता है तब शुद्ध होता है।

षट्पद

जब यह प्रनवत जीव, दयादिक शुभपयोग मय।
अथवा अशुभ स्वभाव गहत, जहँ विषय भोग लय।।
किंवा शुद्धुपयोगी, जहँ सुधा वहावत।
जुत परिनामिक भाव, नाम तहँ तैसो पावत।

जिमि सेत फटिक वश झांकके, झांक वृन्द रंगत गहत।
तजि झांक झांक जब झांकियत, तब अटांक सदपद महत।।३१।।

(१०)

परिणाम वस्तु का स्वभाव है

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणतमो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो।।१०।।

अर्थात् इस लोक में परिणाम के बिना पदार्थ नहीं है, पदार्थ के बिना परिणाम नहीं है; पदार्थ द्रव्य-गुण-पर्याय में रहनेवाला और (उत्पादव्यय-ध्रौव्यमय) अस्तित्व से बना हुआ है।

सोरठा

दरबन विन परिणाम, परनति दरब बिना नहीं।
दरब गुनपरजधाम, सहित अस्ति जिनवर कही।।३२।।

मनहरण

केई मूढ़मती कहें द्रव्य में न गुन होत,
द्रव्य और गुनन को न्यारो न्यारो थान है।
गुन के गहनतैं कहावै द्रव्य गुनी नाम,
जैसे दण्ड धौ तब दण्डी परधान है।।

तासौं स्यादवादी कहै यह तो विरोध बात,
विना गुन द्रव्य जैसे खर को विषान है।
बिन परिनाम तैनें द्रव्य पहिचाने कैसे,
परिनामहू को कहा थान विद्यमान है।।३३।।

देखो एक गोरस त्रिविधि परिनाम धरै,
दूध दधि घृत में ही ताको विस्तार है।
तैसे ही दरब परिनाम विना रहै नाहिं,
परिनामहू को वृन्द दरब अधार है।।
गुनपरजायवन्त द्रव्य भगवन्त कही,
सुभाव सुभावी ऐसे गही [१]गनधार है।
जैसे हेम द्रव्य गुन गौरव सुपीततादि,
परजाय कुण्डलादिमई निरधार है।।३४।।

१- गणधरदेव।

जैसे जो दरब ताको तैसो परिनाम होत,
देखो भेदज्ञान सों न परौ दौर धूप में।
तातैं जब आतमा प्रनवै शुभ व अशुभ,
अथवा विशुद्धभाव सहज स्वरूप में।।

तहां तिन भावनिसों तदाकार होत तब,
व्याप्य अरु व्यापक को यही धर्म रूप में।
कुन्दकुन्द स्वामी के वचन कुन्द इन्दु से हैं,
धरो उर वृन्द तो न परौ भवकूप में।।३५।।

(११)

दो प्रकार के चारित्र का (शुद्ध और शुभ) परस्पर विरुद्ध फल

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं।।११।।

अर्थात् धर्म से परिणमित स्वरूपवाला आत्मा यदि शुद्ध उपयोग में युक्त हो तो मोक्ष सुख को प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोगवाला हो तो (स्वर्गसुखं) स्वर्ग के सुख को (बन्ध को) प्राप्त करता है।

मत्तगयन्द

धर्म सरूप जबै प्रनवै यह, आतम आप अध्यातम ध्याता।
शुद्धुपयोग दशा गहिकै, सु लहै निरवान सुखामृत ख्याता।।
होत जबै शुभरूपपयोग, तबै सुरगादि विभौ मिलि जाता।
आपहि है अपने परिनामनिको फल भोगनहार विधाता।।३६।।

मोतीदाम

जबै जिय धारत चारित शुद्ध। तवै पद पावत सिद्ध विशुद्ध।
सराग चरित्त धरै जब चित्त, लहे सुरगादि विषैं वर वित्त।।३७।।

दोहा

तातैं शुद्धुपयोग के, जे सम्मुख हैं जीव।
तिनको शुभ चारित्रमहँ, रमनो नाहिं सदीव।।३८।।

(१२)

अशुभ परिणामों का फल

असुहोदएण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिदुदो भमदि अच्चंतं।।१२।।

अर्थात् अशुभ उदय से आत्मा कुमनुष्य तिर्यंच और नारकी होकर हजारों दुःखों से सदा पीड़ित होता हुआ (संसार में) अत्यंत भ्रमण करता है।

माधवी

अशुभोदय से यह आतमराम, अनन्त कलेश निरन्तर पायो।
कुमनुष्य तथा तिरजंचनि में, बहुधा नरकानल में पचि आयो।।
नहिं पार मिल्यो परिवर्तन को, इहि भांति अनादि कुकाल गमायो।
अब आतम धर्म गहो सुखकन्द, जिनिंद जथा भवि वृन्द बतायो।।३९।।

दोहा

महा दुःख को बीज है, अशुभरूप परिणाम।
याके उदय अनन्त दुख भुगते आतमराम।।४०।।

दारिद दुखनर नीचपद, इत्यादिक फल देत।
नारकगति तिरजंचगति, याको सहज निकेत।।४१।।

तातै तजिये सर्वथा, अव्रत विषय-कषाय।
याके उदय न बनि सकत, एकौ धर्म उपाय।।४२।।

शुभ परिनामनके विषैं, है विवहारिक धर्म।
दया दान पूजादि बहु, तप संयम शुभकर्म।।४३।।

ताहि कथंचित धारिये, लखिये आतमरूप।
शिवमग को सहकार यह, यों भाखी जिनभूप।।४४।।

(१३)

शुभ-अशुभ वृत्ति का तिरस्कार और शुद्धोपयोग का सन्मान

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं।।१३।।

अर्थात् शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओं का (केवली और सिद्धों का) सुख अतिशय आत्मोत्पन्न विषयातीत (अतीन्द्रिय) अनुपम अनन्त (अविनाशी) और अविच्छिन्न (अटूट) है।

मनहरण

शुद्ध उपयोग सिद्ध भयो हैं प्रसिद्ध जिन्हें।
एसो सिद्ध अरहंतन के गाययतु है।।

आतम सुभावतैं उपजो साहजिक सुख।
सवतैं अधिक अनाकुल पाइयतु है।।

अक्ष पक्षतैं विलक्ष विषैसों रहित स्वच्छ।
उपमा की गच्छसों अलक्ष ध्याहयतु है।।

निराबाध हैं अनन्त एकरस रहैं संत।
ऐसे शिवकंत की शरन जाइयतु है।।४५।।

(१४)

शुद्धोपयोग परिणति का स्वरूप

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति।।१४।।

अर्थात् जिन्होंने (निज शुद्ध आत्मादि) पदार्थों को और सूत्रों को भलीभाँति जान लिया है, जो संयम और तपयुक्त हैं, जो वीतराग अर्थात् राग रहित हैं और जिन्हें सुख-दुःख समान हैं, ऐसे श्रमण को (मुनिवर को) 'शुद्धोपयोगी' कहा गया है।

शुद्धउपयोग जुक्त जति जे विराजत हैं।
सुनो तासु लच्छन विचच्छन बुधारसी।।

भलीभांति जानत यथारथ पदारथ को।
तथा श्रुतसिंधु मथि धारत सुधारसी।।

संजमसों पंडित तपोनिधान पंडित हैं।
राग-दोष खंडिके बिहंडत मुधारसी।।

जाके सुख-दुख में न हर्ष-विषाद वृन्द।
सोई पर्म धर्म धार धीर मो उधारसी।।४६।।

दोहा

जो मुनि सुपरविभेद धरि, करे शुद्ध सग्धान।
निजस्वरूप आचरनमें, गाड़ै अचल निशान।।४७।।

सकल सूत्र सिद्धान्त को, भलिभांति रस लेत।
तप संजम साधै सुधी, राग दोष तजिदेत।।४८।।

जिवन मरण विषै नहीं, जाके हर्ष विषाद।
शुद्धुपयोगी साधु सो, रहित सकल अपवाद।।४९।।

(१५)

शुद्धोपयोग की पूर्णता–केवलज्ञान की प्राप्ति

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं।।१५।।

अर्थात् जो उपयोग विशुद्ध (शुद्धोपयोगी) है वह आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहरूप रज से रहित स्वयमेव होता हुआ ज्ञेयभूत पदार्थों के पार को प्राप्त होता है।

मत्तगयंद

जो उपयोग विशुद्ध विभाकर, मंडित है चिन्मूरतराई।
सो वह केवलज्ञान धनि, सब ज्ञेय के पार ततच्छन जाई।।
घाति चतुष्टय तास तहाँ, स्वयमेव विनाश लहैं दुखदाई।
शुद्धुपयोग परापति प्राप्ति की महिया यह वृन्द मुनिन्द न गाई।।५०।।

षट्पद

जिस आतम के परम सुद्ध, उपयोग सिद्ध हुव।
जिसके जुग आचरन, मोहल विघन नास धुव।।
सकल ज्ञेय के पार जात सो, आप ततच्छन।
ज्ञान फुरन्त अनन्त, सोई अरहंत सुलच्छन।।
महिमा महान अमलान नव, केवल लाभ सुधाकरन।
शिवथानदान भगवान के, वृन्दावन वंदत चरन।।५१।।

(१६)

अन्य कारकों से निरपेक्ष–स्वयंभू आत्मा

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो।।१६।।

अर्थात् इस प्रकार वह आत्मा स्वभाव को प्राप्त सर्वज्ञ और सर्व (तीन) लो के अधिपतियों से पूजित स्वयमेव हुआ होने से 'स्वयंभू' है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

मनहरण

ताही भाँति विमल भये जे आप चिदानन्द।
तास को स्वयंभू नाम ऐसो दग्सायो है।।
प्रापत भये अनन्त ज्ञानादि स्वभावगुन।
आप ही ते आपमाहिं सुधा बरसायो है।।
सोई सरवज्ञ तिहूँकाल के समस्त वस्त।
हस्तरेख से प्रशस्त लखै सरसायो है।।
ताही के पदारविन्द देवइन्द नागइन्द।
मानुषेंद वृन्द वंदि पूज हरषायो है।।५२।।

षट्कारक निरूपण

दोहा

निजस्वरूप प्रापतिविषैं, पर सहाय नहिं कोय।
षट्प्रकार कारकनि में, यह आतम थिर होय।।५३।।

तासु नाम लक्षण सुगम, कहों जथारथरूप।
जैनवैन की रीति सों, ज्यों गुरु कथित अनूप।।५४।।

करता करम करन तथा, संप्रदान उर आन।
अपादान पुनि अधिकरन, ये षट्कारक मान।।५५।।

गीतिका

स्वाधीन होइ कहै सोई, करतार ताको जानिये।
करतार की करतूति को, कहि करम कारक मानिये।।
जाकरि करम को करत कतो, करन ताको नाम है।
वह करम जाको देत संप्रदान सो सरनाम है।।५६।।

पूरव अवस्था त्याग कर जो, होत नूतन काज है।
सो जानियो पंचमों कारक अपादान समाज है।।
जाके अधार बनै करम, अधिकरन सोई ठीक है।
यह नाम लक्षण है विचच्छन छहों की तहकीक है।।५७।।

भुजंगी

जहाँ और की मान नैमित्तता, करै है सुधी काज की सिद्धता।
तहां है असद्भूतुपचारता, कोई द्रव्य काहू को ना धारता।।५८।।

मनहरन

जैसे कुम्भकार करतार घट कर्म करै।
दंड चक्र आदि ताके साधन करन है।।
जब घट कर्म को बनाय जलहेत देत।
तहाँ संप्रदान नाम कारक वरन है।।
पूरव अवस्था मृतपिंड को विनाश भये।
घट निरमये अपादानता धरन है।
भूमि के अधार घट कर्म को वनावत है,
तहाँ अधिकर्न होत संशय हरन है।।५९।।

दोहा

यामें करतादिक पृथक्, यातें यह व्यवहार।
सम्यकबुद्धि पसारकें समझ लेहु श्रुतिद्वार।।६०।।

लक्ष्मीधरा

आप ही आपतें आपको साधता,
और की नाहिं, आधार आराधता।
नाम निश्चै यही सत्य है सासता,
स्यादवादी विना कौनको भासता।।६१।।

षट्पद

ज्यों माटी करतार, सहज सत्ता प्रमानमय।
अपने घट परिनाम, करम को आप करत हय।।
आपहि अपने कुम्भकरन को, साधन हो है।
आप होय घट कर्म, आपको देत सु सोहै।।
आप ही अवस्था पूर्व की, त्यागि होत घटरूप चट।
अपने आधार करि आप ही, होत प्रगट घटरूप ठट।।६२।।

सहज सकति स्वाधीन, सहित करतार जीव ध्रुव।
करत शुद्ध सरवंग, आपको यही करम हुव।।
निज परनतिकरि करत, आपको शुद्ध करन तित।
सो गुन आपहि आप, देत यह संप्रदान हित।।
तजि समल विमल आपहि वनत, अपादान तब उर धरन।।
करि निजाधार निजगुन अमल, तहां आप सो अधिकरन।।६३।।

चौबोला

जब संसार दशा तज चेतन, शुद्धुपयोग स्वभाव गहै।
तब आपहि षट्कारकमय ह्वै, केवलपद परकाश लहै।।
तहां स्वयंभू आप कहावत, सकल शक्ति निज व्यक्त अहै।
चिद्विलास आनन्दकन्द पद, वंदि वृन्द दुखद्वंद दहै।।६४।।

(१७)

इस स्वयंभू आत्मा को शुद्धत्व प्राप्ति का अत्यंत अविनाशीपना और कथंचित् उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व

भंगविहूणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवाओ।।१७।।

अर्थात् उसके (शुद्धात्मस्वभाव को प्राप्त आत्मा के) विनाश रहित उत्पाद है, और उत्पाद रहित विनाश है। उसके ही फिर स्थिति, उत्पाद और विनाश का समवाय मिलाप, एकत्रपना वि द्यमान है।

द्रुमिला

तिस ही अमलान चिदातम के, निहचै करि वर्तत है जु यही।
उतपात भयो जो विशुद्ध दशा, तिसको न विनाश लहै कब ही।।
अरु भंग भये परसंगिक भावनिको उतपाद नहीं जो नहीं।
पुनि है तिनके ध्रुव वै उतपाद, सदीव सुभाविकमाहिं सही।।६५।।

दोहा

शुद्धुपयोग अराधि के, सिद्ध भये सरवंग।
जे अनन्त ज्ञानादिगुन, तिनको कबहुँ न भंग।।६६।।

अरु अनादि के करम मल, तिनको भयो विनाश।
सो फिर कबहुं न ऊपज, जहां शुद्ध प्रकाश।।६७।।

पुनि ताही चिद्रूप के वर्तते है यह धर्म।
उपजन विनशन ध्रुव रहन, साहजीक पद पर्म।।६८।।

द्रव्यदृष्टिकर ध्रौव्य है, उपजत विनशत पर्ज।
षट्गुनहानरु वृद्धि करि, वरनत श्रुति भ्रम वर्ज।।६९।।

(१८)

उत्पादादि तीनों प्रकार सिद्ध भगवान को भी हैं।

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सव्भूदो।।१८।।

अर्थात् किसी पर्याय से उत्पाद और किसी पर्याय से विनाश सर्व पदार्थमात्र के होता है; और किसी पर्याय से पदार्थ वास्तव में ध्रुव है।

मनहरण

जेते हैं पदारथ के जात विद्यमान तेते,
उतपाद व्यय भाव धरें सदाकाल है।
अर्थ परजाय में कि विंजन परजमाहिं,
अथवा विभावकै स्वभाव पर्जपाल है।।
याही के आधार निराधार निज सत्ताधार,
निजाधार निराबाध द्रव्य गुनमाल है।
कुन्दकुन्द इन्दु के वचन अमी वृन्द पियो,
जाको इन्द-चन्द-वृन्द वन्दत त्रिकाल है।।७०।।

किरीट

जो जग में सब वस्तु विराजत, सो उतपादरु व्यै ध्रुव धारक।
हैं परजाय सुभावमई कि विभाव कि अर्थ कि विंजन कारक।।
है इनही करकें तिनकी, तिहुँकाल विषैं सदभाव उदारक।
या विन द्रव्य सधै न किसी विधि, यों श्रुतिसिन्धु मथी गनधारक।।७१।।

मत्तगयन्द

कुण्डलरूप भयो जब कंचन, कंकनता तब ही तज दीनों।
ध्रौव्य दुहूमहँ आपहि है, गुन गौरव पीत सचिक्कन लीनों।।
त्यों सब द्रव्य सदा प्रनवै, परजाय विषैं गुन संग धरीनो।
तीन विहीन नहीं कोउ वस्तु, यही उनको सदभाव प्रवीनो।।७२।।

मनहरण

धरम अधरम अकाश काल चारों द्रव्य,
सहज सुभाव परजायमाहिं रहे हैं।
षटगुनी हानि वृद्धि करें समै समै माहिं,
अगुरुलघुन के द्वार ऐसे कहै हैं।।
गतिथिति अवकाश वर्तना गुन निवास,
चारों में यथोचित स्वसत्ता ही को गहै हैं।
जीव पुदगल में विराजैं दोऊ परजाय,
विभाव तथा सुभाव जब जैसो लहै हैं।।७३।।

दोहा

ज्यों मानुष तन त्यागिकै, उपजत सुरपुर जीव।
दुहूँ दशा में आप ध्रुव, इमि तिहु सधत सदीव।।७४।।

अथवा सिद्धदशा विषैं, ऐसे साधी साध।
समल दशा तजि अमल हुव, वह ध्रुव जीव अबाध।।७५।।

अथवा ज्ञानादर्श में दरसि रहै सब ज्ञेय।
ज्ञेयाकार सुज्ञान तहँ, होत प्रतच्छ प्रमेय।।७६।।

तिन ज्ञेयन की त्रिविध गति, जिह जिह भांति सुहोत।
तिहि तिहि भांति सुज्ञान वह, प्रनवत सहज उदोत।।७७।।

याही भांति प्ररूपना, सिद्ध दशा के मांह।
उतपतव्ययध्रुव की सधत, अनेकांत की छांह।।७८।।

षटगुनि हानि रु वृद्धि की, जा विधि उठत तरंग।
सहज सुभाविक भाव में, सोऊ सधत अभंग।।७९।।

उपजन विनशन ध्रौव्य के, विना द्रव्य नहिं होय।
साधी गुरु सिद्धान्त में, वाधी तहाँ न कोय।।८०।।

प्रश्न– **शिखरिणी**

कहो उत्पादादी त्रिविधिकर अस्तित्व तुमने।
सुनी मैंने नीके उठत तब शंका मुझ मने।।
त्रिधा काहे भाषो, ध्रुवहि करि के क्यों नहिं कहो।
कहा यातें नाहीं सधत? सब वरतें मुनि महो।।८१।।

उत्तर– **अनंगशेखर (दंडक ३२ वर्ण)**

पदार्थ को जु ध्रौव्यरूप एक पच्छ मानिये,
तु तासु में प्रतच्छ दोष लच्छ लच्छ जानिये।
कुटस्थ रूप राजतौ प्रवृत्त त्याजि भाजतौ,
विराजतौ सदैव एक रूप ही बखानिये।।
सु तौ नहीं विलोकिये विलोकिये त्रिघातमीक,
एक वस्तु की दशा अनेक होत मानिये।
सुवर्ण कुण्डलादि होत दूधतैं घृतादि जोत,
मृत्तिका घटादिको तथैव सो प्रमानिये।।८२।।

दोहा

दरवमाहिं दो शक्ति हैं, भाषी गुन परजाय।
इन बिन कबहुँ न सधि सकत, कीजे कोटि उपाय।।८३।।

नित्य तदातमरूपमय, ताको गुन है नाम।
जो क्रमकरि वरतै दशा, सो परजाय ललाम।।८४।

कहीं कहीं है द्रव्य की, दोइ भाँति परजाय।
नित्यभूत तद्रूप इक, दुतिय अनित्य बताय।।८५।।

नित्यभूत को गुन कहैं, दुतिय अनित्य विभेद।
ताहि कही परजाय गुरु, यह मत प्रवल अछेद।।८६।।

तिन परजायकरि दरव, उपजत विनशत मान।
ध्रौव्यरूप निजगुणसहित, दुहूँ दशा में जान।।८७।।

याही कर सद्भाव तसु, यह है सहज स्वभाव।
यहां तर्क लागै नहीं, वृथा न गाल बजाव।।८८।।

उक्तं च देवागमे – चौपाई

श्रीगुरु त्रिविधि तत्त्व को साधत। प्रगट दिखावत हैं निरबाधत।
घट परजाय धरै जो सोना। ताहि नाशि करि मुकुट सु होना।।८९।।

तहां कुम्भ सो जो रुचि रेखी। ताके होत विषाद विशेखी।
मौलि बनेंतें जाके प्रीती। ताके हरष होत निरनीती।।९०।।

जाके सोनाहीसों काजा। सो दुहु में मध्यस्थ विराजा।
तब कहु दरव त्रिविधि नहिं कैसै? प्रगट विलोक हेतु जुत ऐसे।।९१।।

गोरस एक त्रिविधि परनवै। दूध दधी घृत जग वरनवै।
प्रनवन सकति नहीं तामाहिं। तब किहि भाँति त्रिविधि हो जाहिं।।९२।।

देखो! प्रथम दूध रस रहा। दधि होते गुन औरै गहा।
घृत होते फिर औरहि भयो। स्वाद भेद गुन औरहि लयो।।९३।।

दूधव्रती दधि घृत को खाता। दधिव्रती घृत दूध लहाता।
घृतव्रतधारी पय दधि गहै। पृथक तत्त्व तब क्यों नहिं अहै।।९४।।

एकै रूप जु गोरस होतो। तीन दश तब किमि उद्योतो।
तातें तत्त्व त्रिघातम सही। न्यायसिंधु मथि श्रीगुरु कही।।९५।।

(१९)

उसको इन्द्रियों के बिना ज्ञान-सुख कैसे? समाधान।

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अहियतेजो।
जादो अदिदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि।।१९।।

अर्थात् जिसके घातिकर्म क्षय हो चुके हैं, जो अतीन्द्रिय हो गया है, अनन्त जिसका उत्तम वीर्य है और अधिक जिसका (केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप) तेज है, ऐसा वह (स्वयंभू आत्मा) ज्ञान और सुखरूप परिणमन करता है।

मत्तगयंद

जो चहु घातिय कर्म विनाशि, अतिन्द्रियरूप भयो अमलाना।
ताहि अनन्त जगे वर वीजरु, तेज अनन्त अपार महाना।।
सो वह आपहि ज्ञान सुखादि, सरूपमयी प्रनयौ भगवाना।
जासु विनाश नहीं कबहीं, गुन वृन्द चिदानंदकंद प्रधाना।।९६।।

(२०)

केवली को शारीरिक सुख-दुःख नहीं है

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं।
जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ।।२०।।

अर्थात् केवलज्ञानी के शरीरसम्बन्धी सुख या दुःख नहीं है, क्योंकि अतीन्द्रियता उत्पन्न हुई है, इसलिए ऐसा जानना चाहिए।

केवल ज्ञानधनी भगवान की, रीति प्रधान अलौकिक गई।
देह धरें तउ देहज दुःख, सुखादि तिन्हें नहिं होत कदाई।।

जातें अतिंद्रिय रूप भये सुख, छायक वृन्द सुभायक पाई।
तातें तिन्हें न विकार कछू, अविकार अनन्त प्रकार बताई।।९७।।

दोहा

सकल घात संघात हत, प्रगट्यो बीज अनन्त।
परम अतिन्द्रिय सुखमयी, जाको कबहुँ न अनन्त।।९८।।

ताको जे मतिमंद शठ, भाषें कवलाहार।
धिग है तिनकी समुझि को, बार बार धिक्कार।।९९।।

गुनथानक छट्ठम विषैं होत अहार विहार।
ताके ऊपर ध्यानगत, तहां न भुक्ति लगार।।१००।।

जे तेरम गुनथान में, अचल चहूँ अरि जार।
छायकलब्धिस्वभाव जहँ, तहँ किमि कवलाहार?।।१०१।।

क्षुधा त्रषा बाधा करै, इन्द्री पीड़ैं प्रान।
यह तो गति संसार में, जगजीवन की जान।।१०२।।

जहां अतिन्द्रिय सुखसहित, चिदानन्द चिद्रूप।
तहां कहां बाधा जहां, प्रगटी शकति अनूप।।१०३।।

मोह करम बिन वेदनी, निरविष विषधर जेम।
जरी जेवरी बलरहित, अबल अघाती तेम।।१०४।।

सकत अनंतानंत जस, प्रगट भयो निरबाध।
तहँ चेतन तनसहित कहँ, लगत न तनिक उपाध।।१०५।।

निजानन्द रसपान तहँ, चिदानन्द कहँ होत।
नोतनकरमसुवरगना, तिनकरि काय उदोत।।१०६।।

कर्मवरगना प्रति समय, पूर्वबंध संजोग।
आय लगहिं पुनि झरपरहिं टिकहिं न बिन उपयोग।।१०७।।

निविड़ मोहनी विघन अरु, ज्ञान दर्शनावर्न।
इनहिं नाशि निर्मल भये, अमल अचल पद धर्न।।१०८।।

ते सांचे सर्वज्ञ हैं, तेई आप्त प्रधान।
तिनके वचन प्रमान हैं, भवि-उर-भ्रम-तम भान।।१०९।।

(२१)

वहाँ पूर्ण ज्ञान और सुख

परिणमदो खलु णाणं पञ्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं।।२१।।

अर्थात् वास्तव में ज्ञानरूप से (केवलज्ञानरूप से) परिणमित होते हुए केवलीभगवान के सर्व द्रव्य-पर्यायें प्रत्यक्ष हैं; वे उन्हें अवग्रहादि क्रियाओं से नहीं जानते।

षट्पद

ज्ञानरूप परिनये, आपु जे केवलज्ञानी।
तिनके सकलप्रतच्छ, द्रव्य गुन-परज-प्रमानी।।
सो नहिं जानहिं ताहि, अवग्रह आदि क्रियाकर।
जातें यह छदमस्थ, ज्ञान की रीति प्रगट तर।।
निहचै सो श्रीभगवान के, सकल आवरन नाश हुव।
सर्वावभास निज ज्ञान में, लोकालोक प्रतच्छ धुव।।११०।।

(२२)

उन्हें कुछ भी परोक्ष नहीं

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स।।२२।।

अर्थात् जो सदा इन्द्रियातीत हैं, जो सर्व ओर से (सर्व आत्मप्रदेशों से) सर्व इन्द्रिय गुणों से समृद्ध हैं और जो स्वयमेव ज्ञानरूप हुए हैं, उन केवलीभगवान को कुछ भी परोक्ष नहीं है।

षट्पद

इस भगवान महान, केवलज्ञान धनीकहँ।
रह्यो न कछू परोक्ष, वस्तु के जानपने महँ।
जातें इन्द्रियरहित, अतीन्द्रियरूप विराजै।
अरु सरवंग समस्त, अच्छ के गुन छबि छाजै।।
स्वयमेव हि ज्ञान सुभाव की, प्रापति है जिनके विमल।
तिनको प्रतच्छ तिहुँ लोक के, वस्तु वृन्द झलकहिं सकल।।१११।।

(२३)

प्रमाणज्ञान सर्वगत

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं।।२३।।

अर्थात् आत्मा ज्ञान प्रमाण है; ज्ञान ज्ञेय प्रमाण कहा गया है। ज्ञेय लोकालोक है, इसलिए ज्ञान सर्वगत-सर्व व्यापक है।

मनहरण

ज्ञान गुन के प्रमान आतमा विराजमान,
जैसे हेम गुन पीत गौरवादि को धरै।
सोई ज्ञानगुन ज्ञेय के प्रमान भाषै जथा,
अग्नि गुन उष्ण जितौ ईंधन तितौ जरै।।
ज्ञेय को प्रमान वृन्द, लोक औ अलोक सर्व,
तासुको विलोकत प्रत्च्छरेखा ज्यों करै।
ताहीतें सरवगति ज्ञान को सुसिद्ध करी,
स्वामी के वचन अनेकान्त रससों भरै।।११२।।

(२४-२५)

उनमें दोष कल्पना का निराकरण

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव।।२४।।
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि।
अहि वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि।।२५।। जुगलं।

अर्थात् इस जगत में जिसके मत में आत्मा ज्ञानप्रमाण नहीं है, उसके मत में वह आत्मा अवश्य ज्ञान से हीन अथवा अधिक होना चाहिए।

यदि वह आत्मा ज्ञान से ही हो तो वह ज्ञान अचेतन होने से नहीं जानेगा, और यदि (आत्मा) ज्ञान से अधिक हो तो (वह आत्मा) ज्ञान के बिना कैसे जानेगा?

ज्ञान गुन के प्रमान आतमा न मानत हैं,
ऐसे जो अजान इस लोक में कुमती हैं।
ताके मतमाहिं गुन ज्ञानतें अधिक हीन,
होत ध्रुवरूप वह आतमा की गती है।।
ये तो ज्ञानहीन ते तो जड़ के समान भयो,
अचेतन तामें कहां ज्ञायक-शकती है।
अधिक बखाने तो प्रमाने कैसे ज्ञान बिना,
ऐसे परतच्छ स्वामी दोनों पच्छ हती हैं।।११३।।

दोहा

जथा अगनि गुन उष्णतें, हीन अधिक नहिं होत।
तथा आतमा ज्ञान गुन, सहित बराबर जोत।।११४।।

अन्वय अरु व्यतिरेकता, ज्ञान आतमामाहिं।
बिना ज्ञान आतम नहीं, आतम बिनु सो नाहिं।।११५।।

जहां जहां है आतमा, तहां तहां है ज्ञान।
जहां जहां है ज्ञान गुन, तहां तहां जिय मान।।११६।।

तातें हीनाधिक नहीं, ज्ञान सुगुनतें जीव।
हीनाधिक के मानतें, बाधा लगत सदीव।।११७।।

कछु प्रदेशपै ज्ञान ह्वै, कछु प्रदेशपै नाहिं।
यों मानत जड़ चेतना, दोनों सम ह्वै जाहिं।।११८।।

तब किमि शुद्ध समाधि में, निरविकल्प थिर होय।
द्विधा दशा किमि अनुभवै, किहि विधि शिवसुख होय।।११९।।

तातें दृष्टि प्रमानतें, बाधित है यह पच्छ।
साधित है निरबाध ध्रुव, जीव ज्ञान यह स्वच्छ।।१२०।।

(२६)

ज्ञान-आत्मा दोनों प्रकार सर्वगतपना

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा।।२६।।

अर्थात् जिनवर सर्वगत हैं और जगत के सर्व पदार्थ जिनवरगत (जिनवर से प्राप्त) हैं; क्योंकि जिन ज्ञानमय हैं और वे सब पदार्थ ज्ञान के विषय होने से जिनके विषय कहे गये हैं।

गीतिका

सर्वगत भगवान को, इस हेतुसों गुरु कहत हैं।
तास ज्ञान प्रकाश में, सब जगत दरसत रहत हैं।।
गुन ज्ञानमय है रूप जिनका, ज्ञेय ज्ञान विषैं मथा।
तासतें सर्वज्ञ सब व्यापक, जथारथ यों कथा।।१२१।।

षट्पद

शुचि दरपन में जथा, प्रगट घट पट प्रतिभासत।
मुकुर जात नहिं तहां, तौन नहिं मुकुर अवासत।।
तथा शुद्ध परकाश, ज्ञान सब ज्ञेयमाहिं गत।
ज्ञेय तहां थित करहिं, यहू उपचार मानियत।।
वह ज्ञान धरम है जीव को, धरमी धरम सु एक अत।
या नयतें श्री सर्वज्ञ को, कहैं जथारथ सर्वगत।।१२२।।

दोहा

एक ब्रह्म सब जगत में, व्यापि रह्यौ सरवंग।
अपने ही परदेशकरि, नानारंग उमंग।।१२३।।

ऐसी जिनके कुमित की, उपज रही है पच्छ।
तिनको मत शतखंडकरि, दूषत हैं परतच्छ।।१२४।।

निज परदेशनिकरि जबै, जग में व्यापौ आप।
तब वह अमल समल भयौ, यह तो अमिल मिलाप।।१२५।।

कछुक अमल कछुक समल ह्वै, तौ भी बनै न बात।
एक वस्तु में दो दशा, क्यों करि चित्त समात।।१२६।।

तातें ज्ञान प्रकाश में, ज्ञेय सकल झलकंत।
सो निजज्ञान सुभावमय, आय प्रगट भगवंत।।१२७।।

यातें श्री सरवज्ञ को, कह्यो सर्वगत नाम।
अंतरछेदी ज्ञानमय, जगव्यापक जगधाम।।१२८।।

यातें जो विपरीत मत, ते सब सकल असिद्ध।
स्यादवादतें सर्वगत, श्री अरहंत सु सिद्ध।।१२९।।

(२७)

एकत्व-अन्यत्व

णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा।।२७।।

अर्थात् ज्ञान आत्मा है ऐसा जिनदेव का मत है। आत्मा के बिना (अन्य किसी द्रव्य में) ज्ञान नहीं होता, इसलिए ज्ञान आत्मा है; और आत्मा (ज्ञान गुण द्वारा) ज्ञान है अथवा (सुखादि अन्य गुण द्वारा) अन्य है।

मनहर

जोई ज्ञान गुन सोई आतम बखाने जातें,
दोऊ में कथंचित न भेद ठहरात है।
आतमा बिना न और द्रव्यमाहिं ज्ञान लसै,
ज्ञान गुन जीव में ही दीखे जहरात है।।
तथा जैसे ज्ञान गुन जीव में विराजै तैसे,
और हू अनन्त गुन तामें गहरात है।
गुन को समूह दव्व अपेक्षासों सिद्ध सव्व,
ऐसो स्यादवाद को पताका फहरात है।।१३०।।

द्रुमिला

गुण ज्ञानहिं को जदि जीव कहैं, तदि और अनंत जिते गुन हैं।
तिनको तय कौन अधार बने, निरधार बिना कहु को सुन है।
गुनमाहिं नहीं गुन और बसैं, श्रुति साधत श्रीजिनकी धुन है।
तिसत गुन पर्ज अनंतमयी, चिनमूरति द्रव्य सु आपुन है।।१३१।।

(२८)

ज्ञान में परज्ञेयों का प्रवेश नहीं है

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति।।२८।।

अर्थात् आत्मा ज्ञान स्वभाव है और पदार्थ आत्मा के ज्ञेय स्वरूप हैं, जैसे कि रूप (रूपी पदार्थ) नेत्रों का ज्ञेय है वैसे वे एक-दूसरे में नहीं वर्तते।

षट्पद

ज्ञानी अपने ज्ञानभाव, ही माहिं विराजै।
ज्ञेयरूप सब वस्तु, आपने छाजै।।
मिलिकर बरतें नाहिं, परस्पर ज्ञेयरु ज्ञानी।
ऐसी ही मर्याद, वस्तु की बनी प्रमानी।।
जिमि रूपी दरवनि को प्रगट, देखत नयन प्रमानकर।
तिमि तहां जथारथ जानि के, वृन्दावन परतीति धर।।१३२।।

(२९)

स्व-सामर्थ्य से ही ज्ञाता-दृष्टा

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवभिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं।।२९।।

अर्थात् जैसे चक्षु रूप को (ज्ञेयों में अप्रविष्ट रहकर तथा अप्रविष्ट न रहकर जानती-देखती है) उसी प्रकार आत्मा इन्द्रियातीत होता हुआ अशेष जगत को (-समस्त लोकालोक को) ज्ञेयों में अप्रविष्ट रहकर तथा अप्रविष्ट न रहकर निरन्तर जानता-देखता है।

मनहर

ज्ञानी ना प्रदेशतें प्रवेश करै ज्ञेयमाहिं,
तथा व्यवहार से प्रवेश हू सो करै है।
अच्छातीत ज्ञानतें समस्त वस्तु देखे जानें,
पाथर की रेख ज्यों न संग परिहरै है।।
जैसे नैन रूपक पदारथ विलोकै वृन्द,
तैसे शुद्ध ज्ञानसों अमल छटा भरै है।
मानों सर्व ज्ञेय को उखारि के निगलि जात,
शक्त व्यक्त तास को विचित्र एसो धरै है।।१३३।

(३०) ज्ञान-ज्ञेय का दृष्टांत

रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमट्ठेसु।।३०।।

अर्थात् जैसे इस जगत में दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपनी प्रभा के द्वारा उस दूध में व्याप्त होकर वर्तता है, उसी प्रकार ज्ञान (अर्थात् ज्ञातृद्रव्य) पदार्थों में व्याप्त होकर वर्तता है।

जैसे इस लोक में महान इंद्रनील रत्न,
दूधमाहिं डाँर तब ऐसो विरतंत है।
आपनी आभासतें सफेदी भेद दूध की सो,
नीलवर्न दूध को करत दरसंत है।।
ताही भांति केवली के ज्ञान की शकति वृन्द,
ज्ञेयन को ज्ञानाकार करत लसंत है।
निहचै निहारें दोऊ आपस में न्यारे तौऊ,
व्याप्य अरु व्यापक को यही विरतंत है।।१३४।।

(३१)

उपरोक्त प्रकार पदार्थ कथंचित् ज्ञान में

जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा।।३१।।

अर्थात् यदि वे पदार्थ ज्ञान में न हों तो ज्ञान सर्वगत नहीं हो सकता और यदि ज्ञान सर्वगत है तो पदार्थ ज्ञानस्थित कैसे नहीं हैं? (अर्थात् अवश्य हैं)।

षट्पद

जो सब वस्तु न लसें, ज्ञान केवलमहँ आनी।
तो तब कैसे होय, सर्वगत केवलज्ञानी।।
जो श्रीकेवलज्ञान, सर्वगत पदवी पायो।
तो किमि वस्तु न बसहिं, तहां सब यों दरसायो।।
उपचार द्वारतें ज्ञान जिमि, ज्ञेयमाहिं प्रापति कही।
ताही प्रकारतें ज्ञान में, वस्तु वृन्द वासा लही।।१३५।।

(३२)

सभी को जानता, फिर भी सबसे भिन्न

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिखसेसं ।।३२।।

अर्थात् केवली भगवान पर को ग्रहण नहीं करते, छोड़ते नहीं, पररूप परिणमित नहीं होते; वे निरवशेषरूप से सबको (सम्पूर्ण आत्मा को, सर्व ज्ञेयों को) सर्व ओर से (सर्व आत्मप्रदेशों से) देखते-जानते हैं।

मनहरण

केवली जिनेश परवस्तु को न गहै तजै,
तथा पररूप न प्रनवै तिहूँ काल में।

जातें ताकी ज्ञानजोति जगी है अकंपरूप,
छायक स्वभावसुख वेवै सर्व हाल में।।
सोई सर्व वस्तु को विलोकै जाने सरवंग,
रंच हू न बाकी रहै ज्ञान के उजाल में।
आरसी की इच्छा बिना जैसे घटपटादिक,
होत प्रतिबिंबित त्यों ज्ञानी गुनमाल में।।१३६।।

दोहा

राग उदयतें संगरह, दोष भावतें त्याग।
मोह उदय पर-परिनमन, ऐसे तीन विभाग।।१३७।।

गहन-तजन-परपरिनमन, इनही तें नित होत।
तास नाशकरिके भयो, केवल जोत उदोत।।१३८।।

जिनकी ज्ञानप्रभा अचल, यथा महामनि-जोत।
प्रथमहिं जो सब लखि लियो, सो न अन्यथा होत।।१३९।।

जथा आरसी स्वच्छ के, इच्छा को नहिं लेश।
लसत तहाँ घटपट प्रगट, यही सुभाव विशेष।।१४०।।

तैसे श्री सरवज्ञ के, इच्छा को नहिं अंस।
निरइच्छा जानत सकल, शुद्धचिदातम हंस।।१४१।।

ऐसे श्री सर्वज्ञ हैं, ज्ञान भान अमलान।
वृन्दावन तिनको नमत, सदा जोरि जुगपान।।१४२।।

(३३)

श्रुतज्ञानी-केवलज्ञानी में कथंचित् समानता

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ।।३३।।

अर्थात् जो वास्तव में श्रुतज्ञान के द्वारा स्वभाव से ज्ञायक (अर्थात् ज्ञायकस्वभाव) आत्मा को जानता है, उसे लोक के प्रकाशक ऋषीश्वरगण श्रुतकेवली कहते हैं।

मत्तगयन्द

जो भवि भावमई श्रुतितें, निज आतमरूप लखै सरवंगा।
ज्ञायकभावमई वह आप, निजौ-पर को पहिचानत चंगा।।
सो श्रुतिकेवली नाम कहावत, जानत वस्तु जथावत अंगा।
लोकप्रदीप रिषीसुर ने, इहिभांति भनी भ्रमभानि प्रसंगा।।१४३।।

मनहरण

निरदोष गुन के निधान निरावर्नज्ञान,
ऐसे भगवान ताकी बानी सोई वेद है।
ताके अनुसार जिन जान्यो निज आतमा को,
सहित विशेष अनुभवत अखेद है।।
सोई श्रुतिकेवली कहावै जिन आगम में,
आपापर जाने भले भरम उछेद है।
केवली प्रभू के परतच्छ इनके परोच्छ,
ज्ञायक शकतिमाहिं इतनो ही भेद है।।१४४।।

केवली के आवरन नाशतें प्रतच्छ ज्ञान,
वेदै एकै काल सुखसंपत अनंत है।
इनके करम आवरनतें करम लियें,
जेतो जानपनो तेतो वेदै सुखसंत है।।
कोऊ भानु उदै देख सकल पदारथ को,
कोऊ दीखे दीपद्वार थोरी वस्तु तंत है।
जानत जथारथ पदारथ को दोऊ वृन्द,
प्रतच्छ परोच्छ ही को भेद वरतंत है।।१४५।।

जैसे मेघावर्नतें बखाने भानुविभाभेद,
जोति में विभेद माने प्रगट लवेद है।
एक ज्ञानधारा में नियारा पंचभेद तैसे,
जानत क्रिया में तहाँ भेद को निषेद है।।
केवली के आवरन नाशतें प्रतच्छ ज्ञान,
इनके परोच्छ श्रुतिद्वारतें सुवेद है।
सांचे सरधानी दोऊ राचे रामरंगमाहिं,
कोऊ परतच्छ कोऊ परोच्छ अछेद है।।१४६।।

तोटक

इहि भांति जिनागममाहिं कही। श्रुतिकेवलि लच्छन दच्छ गही।
निज आतम को दरसै परसै। अनुभौ रसरंग तहां बरसें।।१४७।।

दोहा

शब्दब्रह्मकरि जिन लख्यो, ज्ञानब्रह्म निजरूप।
ताही को श्रुतिकेवली, भाषतु हैं जिनभूप।।१४८।।

(३४) श्रुतज्ञान भी ज्ञान ही है।

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया।।३४।।

अर्थात् सूत्र अर्थात् पुद्गलद्रव्यात्मक वचनों के द्वारा जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट वह उसकी ज्ञप्ति ज्ञान है और उसे सूत्र की ज्ञप्ति (श्रुतज्ञान) कहा गया है।

मत्तगयन्द

श्री सरवज्ञहृदम्बुधितें, उपजी धुनि जो शुचि शारद गंगा।
सो वह पुग्गलद्रव्यमई, भई अंग उपंग अभंग तरंगा।।

ताकहँ जो पहिचानत है, सोइ ज्ञान कहावत भावश्रुतंगा।
सूत्रहु को गुरुज्ञान कहैं, सो विचार यहाँ उपचार प्रसंगा।।१४९।।

(३५) ज्ञान और आत्मा का एकत्व

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे।।३५।।

अर्थात् जो जानता है सो ज्ञान है (अर्थात् जो ज्ञायक है वही ज्ञान है), ज्ञान के द्वारा आत्मा ज्ञायक है, ऐसा नहीं है। स्वयं ही ज्ञानरूप परिणमित होता है और सर्व पदार्थ ज्ञानस्थित हैं।

षट्पद

जो जाने सो ज्ञान, जुदो कछु वस्तु न जानो।
आतम आपहि ज्ञान, धर्मकरि ज्ञायक मानो।।
ज्ञानरूप परिनवै, स्वयं यह आतमरामा।
सकल वस्तु तसु बोधमाहिं, निवसैं करि धामा।।
जद्यपि संज्ञा संख्यादितें, भेद प्रयोजनवश कहा।
तद्यपि प्रदेशतें भेद नहिं, एक पिंड चेतन महा।।१५०।।

मनहरण

जैसे घसिहारो घास काटै लोह दांतलेसों,
तहाँ करतार क्रिया साधन नियारा है।
तैसे आतमाविषैं न भेद है त्रिभेदरूप,
यहाँ तो प्रदेशतें अभेद निराधारा है।।
संज्ञा संख्या लच्छन प्रयोजनतें वस्तु को,
अनन्त धर्मरूप सिद्ध साधन उचारा है।
गुणी गुणमाहिं जो सरवथा विभेद मानें,
तहाँ तो प्रतच्छ दोष लागत अपारा है।।१५१।।

मत्तगयन्द

आतम को गुन ज्ञानतें भिन्न, बखानत हैं केई मूढ़ अभागे।
दो विधि बात कहो तिनसों, वह ज्ञान विराजत है किहि जागे।।
जो जड़ में गुन ज्ञान बसै, तब तो जड़ चेतनता-पद पागे।
जीवहि में जो बसै गुन ज्ञान, तो क्यों तुम गाल बजावन लागे।।१५२।।

मनहरण

जैसे आग दाहक-क्रिया को करतार ताको,
उष्णगुन दाहक-क्रिया को सिद्ध करै है।
तैसे आतमा की क्रिया ज्ञायकसुभाव तासु,
ज्ञानगुन साधन प्रधानता आचरै है।।
विवहार दिष्टतें विशिष्ट है विभेद वृन्द,
निहचै सुदिष्ट सों अभेद सुधा झरै है।
आप चिन्मूरत अखंड द्रव्यदृष्टि ताके,
सत्ता गुन भेदतें अनंत धारा धरै है।।१५३।।

दोहा

निरविकल्प आतम दरब, द्रव्यदृष्टि के द्वार।
जब गुन परज विचारिये, तब बहु भेद पसार।।१५४।।

जेते वचन विकल्प हैं, ते ते नय के भेद।
सहित अपेच्छा सिद्ध सब, रहित अपेच्छ निषेद।।१५५।।

जहां सरवथा पच्छकरि, गहत वचन की टेक।
तहाँ होत मिथ्यात मत, सधत न वस्तु विवेक।।१५६।।

तातें दोनों नयनि को, दोनों नयनसमान।
जथाथान सरधानकरि, वृन्दावन सुख मान।।१५७।।

जहां अपेच्छा जासु की, तहां ताहि करि मुख्य।
करो सत्य सरधान दिढ़, स्यादवाद रस चुख्य।।१५८।।

है सामान्य विशेषमय, वस्तु सकल तिहि काल।
सो इकंतसों सधत नहिं, दूषन लगत विशाल।।१५९।।

तातें यह चिद्रूप को, प्रनवन है गुन ज्ञान।
ज्ञानरूप वह आप है, चिदानंद भगवान।।१६०।।

(३६) ज्ञान–ज्ञेय का वर्णन

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं।।३६।।

अर्थात् इसलिए जीव ज्ञान है और ज्ञेय तीन प्रकार से वर्णित (त्रिकालस्पर्शी) द्रव्य है। (वह ज्ञेयभूत) द्रव्य अर्थात् आत्मा (स्वात्मा) और पर जो कि परिणामवाले हैं।

षट्पद

पूरवकथित प्रमान, जीव ही ज्ञान सिद्ध हुव।
ज्ञेय द्रव्य कहि त्रिविधि, विविध विध भेद तासु ध्रुव।।
चिदानंद में द्रव्य, ज्ञेय दोनों पद सोहै।
अन्य पंच जड़वर्ग, ज्ञेय पदवी तिनको है।।
यह आतम जानत सुपरको, ज्ञान वृन्द परकाश धर।
परिनामरूप सनबंध है, ज्ञाता ज्ञेय अनादिकर।।१६१।।

जदपि होय नट निपुन, तदपि निजकंध चढ़ै किमि।
तिमि चिनमूरति ज्ञेय, लखहु नहिं लखत आप इमि।।
यों संशय जो करै, तासु को उत्तर दीजे।
सुपर प्रकाशकशक्ति, जीव में सहज लखीजे।।

जिमि दीप प्रकाशत सुघटपट, तथा आप दुति जगमगत।
तिमि चिदानंद गुन वृन्द में, स्वपरप्रकाशक पद पगत।।१६२।।

चौपाई

ज्ञेय त्रिघातम को यह अर्थ। भाषा श्रीगुरुदेव समर्थ।।
भूत अनागत वरतत जेह। परजय भेद अनंते तेह।।१६३।।
अथवा उतपतिव्ययध्रुवरूप। तथा द्रव्यगुनपरज प्ररूप।।
सुपर ज्ञेय के जे ते भेद। सो सब जानत ज्ञान अखेद।।१६४।।
ज्ञानरूप अरु ज्ञेयस्वरूप। द्रव्यरूप यह है चिद्रूप।।
और पंच जड़वर्जित ज्ञान। सदा ज्ञेयपद धरै निदान।।१६५।।
आतमज्ञान जोतिमय स्वच्छ। स्वपर ज्ञेय तहँ लसत प्रतच्छ।।
वंदो कुन्दकुन्द मुनिराय। जिन यह सुगम सुमग दरसाय।।१६६।।

(३७) द्रव्यों की भूत-भावी पर्यायें भी वर्तमानवत् और ज्ञान में पृथक्-पृथक् ज्ञात होती हैं।

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं।।३७।।

अर्थात् उन (जीवादि) द्रव्यजातियों की समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायों की भाँति, विशिष्टता-पूर्वक (अपने-अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप में) ज्ञान में वर्तती हैं।

मनहरण

जेते परजाय षट्द्रव्यन के होय गये,
अथवा भविष्यत जे सत्ता में विराजैं हैं।
ते ते सब भिन्न भिन्न सकल विशेषजुत,
शुद्ध ज्ञान भूमिका में ऐसे छबि छाजैं हैं।।

जैसे ततकाल वर्तमान को बिलोकै ज्ञान,
तैसे भगवान अविलौकैं महाराजैं हैं।
भूतभावी वस्तु चित्रपट में निहारैं जैसे,
गहै ज्ञान ताको तैसे तहां भ्रम भाजैं हैं।।१६७।।

दोहा

वर्तमान के ज्ञेय को, जो जानत है ज्ञान।
तामें तो शंका नहीं, देखत प्रगट प्रमान।।१६८।।

भूत भविष्यत पर्ज तो, है ही नाहीं मित्त।
तब ताको कैसे लखै, यह भ्रम उपजत चित्त।।१६९।।

बाल अवस्था की कथा, जब उर करिये याद।
तब प्रतच्छवत होत सब, यामें नाहिं विवाद।।१७०।।

अथवा भावी वस्तु जे, वेदविदित सब ठौर।
तिनहिं विचारत ज्ञान तहँ, होत तदाकृति दौर।।१७१।।

बाहूबलि भरतादि जे, ऽतीत पुरुष परधान।
अथवा श्रेणिक आदि जे, होनहार भगवान।।१७२।।

तिनको चित्र विलोकतैं, ऐसो उपजत ज्ञान।
जैसे ज्ञेय प्रतच्छ को, जानत ज्ञान महान।।१७३।।

छदमस्थनि के ज्ञान की, जहँ ऐसी गति होय।
जानहिं भूत भविष्य को, वर्तमानवत सोय।।१७४।।

तब जिनके आवरन को, भयौ सरवथा नाश।
प्रगट्यो ज्ञान अनंतगत, सहज शुद्ध परकाश।।१७५।।

तिनके भूत भविष्य जे, परजै भेद अनन्त।
छहों दरब के लखन में, शंका कहा रहन्त।।१७६।।

यह सुभाव है ज्ञान को, जब प्रनवत निजरूप।
तब जानत जुगपत, त्रिविधि त्रिकालिकभूप।।१७७।।

ऐसे परम प्रकाशमहँ, शुद्ध बुद्ध जिमि अर्क।
तास प्रगट जानन विषैं, कैसे उपजै तर्क।।१७८।।

अपने वस्तुस्वभाव में, राजै वस्तु समस्त।
निज सुभाव में तर्क नहिं, यह मन सकल प्रशस्त।।१७९।।

(३८) अविद्यमान पर्यायों का भी कथंचित् विद्यमानत्व

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा।।३८।।

अर्थात् जो पर्यायें वास्तव में उत्पन्न नहीं हुई हैं, तथा जो पर्यायें वास्तव में उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं, वे अविद्यमान पर्यायें ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

दोहा

जे परजे उपजे नहीं, होय गये पुनि जेह।
असद्भूत है नाम तसु, यों भगवान भनेह।।१८०।।

ते सब केवलज्ञान में, हैं प्रतच्छ गुनमाल।
ज्यों चौबीसी थंभ में, लिखी त्रिकालिक हाल।।१८१।।

(३९) उनके भी ज्ञान प्रत्यक्षत्व

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति।।३९।।

अर्थात् यदि अनुत्पन्न पर्याय तथा नष्ट पर्याय ज्ञान के (केवलज्ञान के) प्रत्यक्ष न हो तो उस ज्ञान को 'दिव्य' कौन प्ररूपेगा?

द्रुमिला

जिस ज्ञान विषैं परतच्छ समान, भविष्यत भूत नहीं झलकै।
परजाय छहों विधि द्रव्यनके, निहचै करके सब ही थलकै।।
तिस ज्ञान कों कौन प्रधान कहै, भवि वृन्द विचार करो भलकै।
वह तो नहिं पूज पदस्थ लहै, न त्रिकालिक ज्ञेय जहाँ ललकै।।

(४०) इन्द्रियज्ञान की तुच्छता

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं।।४०।।

अर्थात् जो अक्षपतित अर्थात् इन्द्रियगोचर पदार्थ को ईहादिक द्वारा जानते हैं, उनके लिये परोक्षभूत पदार्थ को जानना अशक्य है, ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। ''

काव्य (मात्रा २६)

जो इन्द्रिनसों भये आप सनबन्ध पदारथ।
तिनको ईहादिकन सहित, जो जानत सारथ।।
सो जन वस्तु परोच्छ तथा, सूच्छिम नहिं जाने।
मतिज्ञानी की यही शकति, जिनदेव बखाने।।१८३।।

मनहरण

इन्द्रिन के विषय जे विराजत हैं थूलरूप,
तिनसों मिलाप जब होय तब जाने हैं।
अवग्रह ईहा औ अवाय धारणादि लिये,
क्रमसों विकल्पकरि ठीकता सो माने हैं।।
भूतभावी परजै प्रमान औ अरूपी वस्तु,
इन्द्रिनतें सर्व ये अगोचर प्रमाने हैं।
जातें इन गच्छिनि को अच्छतें न ज्ञान होत,
ताहीसेती अच्छज्ञान तुच्छ ठहराने है।।१८४।।

(४१) अतीन्द्रिय ज्ञान की महानता

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं।।४१।।

अर्थात् जो ज्ञान अप्रदेश को, सप्रदेश को, मूर्त को, और अमूर्त को तथा अनुत्पन्न और नष्ट पर्याय को जानता है, वह ज्ञान अतीन्द्रिय कहा गया है।

अप्रदेशी कालानु प्रदेशी पंच अस्तिकाय,
मूरतीक पुग्गल अमूरतीक पांच है।
तिनके अनागम अतीत परजाय भेद,
नाना भेद लिये निज निज थल माच है।।
सर्व को प्रतच्छ एक समैही में जाने स्वच्छ,
अतीन्द्रियज्ञान सोई महिमा अवाच है।
बारबार वंदत पदारविंदता को वृन्द,
जाको पद जानैंतें न नाचै कर्मनाच है।।१८५।।

सवैया छन्द

इन्द्रियजनित ज्ञान ही तें जे, मतवाले माने सरवज्ञ।
सो तौ प्रगट विरोध बात है, पच्छ छांड़ि परखौ किन तज्ञ।।
सूक्ष्मान्तरित दूर के द्रव्यनि, सों न प्रतच्छ लखै अलपज्ञ।
यातें निरावरन निरदूषित, छायक ही ज्ञानी सारज्ञ।।१८६।।

(४२) उस ज्ञान में ज्ञेयार्थ परिणमन लक्षण क्रिया नहीं है।

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स।
णाणं ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता।।४२।।

अर्थात् ज्ञाता यदि ज्ञेय पदार्थरूप परिणमित होता हो तो उसके

क्षायिक ज्ञान होता ही नहीं। जिनेन्द्रदेवों ने उसे कर्म को ही अनुभव करनेवाला कहा है।

षट्पद

जो ज्ञाता परिनवै, ज्ञेय में विकलप धारै।
तिहि को छायक ज्ञान, नाहिं यों जिन उच्चारै।।
वह विकलपजुत वस्तु, वृन्द अनुभव न करै है।
मृगतृष्णा इव फिरत, नाहिं संतोष धरै है।।
तातैं विकलपजुतज्ञान को, नहिं छायकपदवी परम।
यह पराधीन इन्द्रियजनित, वह सुबोध आतमधरम।।१८७।।

(४३) संसारी के दोष वहाँ नहीं है

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि।।४३।।

अर्थात् (संसारी जीव के) उदय प्राप्त कर्मांश (ज्ञानावरणीय आदि पुद्गलकर्म के भेद) नियम से जिनवर वृषभों ने कहे हैं। जीव उन कर्मांशों के होने पर, मोही, रागी अथवा द्वेषी होता हुआ बन्ध का अनुभव करता है।

द्रुमिला

भगवन्त भनी जगजंतुनि को, जब कर्मउदै इत आवत है।
तब राग विरोध विमोहि दशा करि, नूतन बंध बढ़ावत है।
दिढ़ आतम जोति जगै तिनको, तिनको रस दै खिर जावत है।
नहिं नूतन बंध बंधै तिनको, इति श्रीगुरु वृन्द बताबत है।।१८८।।

(४४) केवली भगवान अबंध ही हैं

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं।।४४।।

अर्थात् उन अरहन्त भगवन्तों के उस समय खड़े रहना, बैठना, विहार और धर्मोपदेश स्त्रियों के मायाचार की भाँति, स्वाभाविक ही – प्रयत्न बिना ही – होता है।

मनहरण

तिन अरहंतानि के इच्छा बिना क्रिया होत,
काय जोग बैठन उठन डग भरनो।
दिव्यध्वनि धारासों दुधारा धर्म भेद भनै,
ताही के अधारा भवपारावार तरनो।।
मायाचार नारिनि में नारिवेद-उदै जैसे।
केवली के तैसे औदयिक क्रिया वरनो।।
देखो! मेघमाला नाद करत रसाला उठि।
चलत विशाला तैसे तहाँ उर धरनो।।१८९।।

दोहा

प्रश्न – पूछत शिष्य विनीत इत, विन इच्छा भगवान।
दिच्छा शिच्छा देत किमि, उठत चलत थितिठान।।१९०।।

उत्तर – सुविहायोगत कर्म है, चलन-फिरन को हेत।
सोई निज रस दै खिरत, उठत चलत थिति लेत।।१९१।।

बिन इच्छा जिमि चलत है, मेघ पवन के जोग।
आरज श्री अरहन्त तिमि, विहरहिं कर्म-नियोग।।१९२।।

भाषा-प्रकृति उदोत लगु, वानी खिरत त्रिकाल।
स्वत: अनिच्छा रूपतैं, तहाँ अलौकिक चाल।।१९३।।

रसन दशन हालैं न कछु, लगत न ओठ लगार।
विकृति होत नहि अंग को, महिमा अपरंपार।।१९४।।

अष्ट स्थानकतैं [१]वरन, उपजत संजुतशोर।
जिनध्वनि वर्जित तासतैं, जथा मेघ घनघोर।।१९५।।

सो जब तहाँ पुनीत जन, पूछहिं सन्मुख आय।
दिव्यध्वनि तब खिरत है, निमित तासुको पाय।।१९६।।

निमित और नैमितक को, बन्यो बनाव अनाद।
सब मत मानत बात यह, यामें नाहिं विवाद।।१९७।।

चिंतामनि अरु कल्पतरु, ये जड़ प्रगट कहाहिं।
मनवांछित संकल्प किमि, सिद्धि करहिं पलमाहिं।।१९८।।

पारस निज गुन देत नहिं, नहिं परऔगुन लेत।
किमि ताको परसत तुरत, लोह कनकछवि देत।।१९९।।

इच्छारहित अनच्छरी, ऐसे जिनधुनि होय।
उठन चलन थितिकरन में, यहाँ न संशय कोय।।२००।।

(४५) कर्म विपाक का अकिंचित्करत्व

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइग त्ति मदा।।४५।।

अर्थात् अरहन्त भगवान पुण्यफलवाले हैं और उनकी क्रिया औदयिकी है; मोहादि से रहित है इसलिए वह क्षायिकी मानी गई है।

मनहरण

पुण्य ही को फल है शरीर अरहंतनि को,
फेरि तिन्हैं सोई कर्म उदै जब आवै है।
तबै काय बैन जोग क्रिया को उदोत होत,
जथा मेघ बोलै डोलै वारि बरसावै है।।

१- वर्ण अक्षर।

जातैं मोह आदि को सरवथा अभाव तहाँ,
तातैं वह क्रिया वृन्द छाय की कहावै है।
पूर्वबंध खिरो जात नूतन न बँधे पात,
छाय की को ऐसोई सुभेद वेद गावै है।।२०१।।

चौपाई

चार भांति करि बंध विभागा। प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभागा।
जोगद्वारतैं प्रकृति प्रदेशा। थिति अनुभाग मोहकृत भेषा।।
जहां मूलतैं मोह विनाशै। तहँ किमि थिति अनुभाग प्रकाशै।
पूरवबंध उदै जो आवे। सो निज रस दैके खिरि जावै।।२०३।।

दोहा

भानु वसत आकाश में, जल में जलज वसंत।
किमि ताको अवलोकते, विकसित होत तुरन्त।।२०४।।

अस्त गभस्त विलोकते, चकवा तिय तजि देत।
लखहु निमित नैमति को, प्रगट अनाहत हेत।।२०५।।

तैसे पुण्यनिधान के, प्रश्न होत परमान।
जिनधुनि खिरत अनच्छरी, इच्छारहित महान।।२०६।।

जैसे शयन दशाविशैं कोउ करि उठत प्रलाप।
विनु इच्छा तसु वचन तहँ खिरत आपतैं आप।।२०७।।

जब इच्छाजुत को वचन, खिरत अनिच्छा येम।
तब सो वचनखिरन विषैं, इच्छा को नहिं नेम।।२०८।।

चिंतामनि सुरवृच्छतैं, गुनित अनंतानंत।
शक्ति सुखद जिनदेह में, सहज सुभाव लसंत।।२०९।।

जैसी जिनकी भावना, तैसी तिनकों दीस।
धुनि धारासों विस्तरत, इन्द्र धरत सत शीस।।२१०।।

अब जिहि विधि वरनातमक, होत सुधारण धार।
ताको सुनि शरधा करो, ज्यों पावो भवपार।।२११।।

श्रीगनधर वर रिद्धिधर, सुनहिं सुधुनि अमलान।
तिनह की मति में सकल, बानी नाहिं समान।।२१२।।

जेतो मतिभाजन तितो, [१]वयन गही गनईश।
वीस अंक परमान श्रुति रचि ताहि नुतशीस।।२१३।।

ताही के अनुसार पुनि और सुगुरु निरग्रंथ।
रचना जिनसिद्धान्त की, रचहिं सुखद शिवपंथ।।२१४।।

चौपाई

आतमराम शुद्ध उपयोगी। अमल अतिंद्री आनन्दभोगी।
तिनकी क्रिया छाय की बरनी। 'वृन्दावन' बन्दत भवतरनी।।२१५।।

(४६) संसारी और केवली में असमानत्व

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं।।४६।।

अर्थात् यदि (ऐसा माना जाये कि) आत्मा स्वयं स्वभाव से (-अपने भाव से) शुभ या अशुभ नहीं होता (शुभाशुभ भाव में परिणमित ही नहीं होता) तो समस्त जीवनिकायों के संसार भी विद्यमान नहीं है ऐसा सिद्ध होगा।

१- वचन

माधवी

जदि आतम आप सुभावहितैं, स्वयमेव शुभाशुभरूप न होई।
तदि तौ न चहै सब जीवनि के, जगजाल दशा चाहिये नहिं कोई।।
जब बंध नहीं तब भोग कहाँ, जो बँधै सोई भोगवै भोग तितोई।
यह पच्छ प्रतच्छ प्रमानतैं साधते, खंडन सांख्यमतीनिकी होई।।२१६।।

छन्द सवैया (सांख्यमती का लक्षण)

सांख्य कहै संसारविषैं थित, जीव शुभाशुभ करै न भाव।
प्रकृति करै करमनि को ताकौ, फल भुगतै चिन्मूरति-राव।।
तहाँ विरोध प्रगट प्रतिभासत, बिना किये कैसे फल पाव।
जातैं जो करता सो मुक्ता, यही राजमारग को न्याव।।२१७।।

(४७) सर्वज्ञपने से अतीन्द्रिय ज्ञान की महिमा

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं।।४७।।

अर्थात् जो एक ही साथ सर्वत: (सर्व आत्मप्रदेशों से) तात्कालिक या अतात्कालिक, विचित्र (-अनेक प्रकार के) और विषम (मूर्त, अमूर्त आदि असमान जाति के) समस्त पदार्थों को जानता है, उस ज्ञान को क्षायिक कहा है।

अशोक पुष्प मंजरी

वर्तमान के गुनौ समस्त पर्ज वा,
भविष्य भूतकाल के जिते अनंतनंत हैं।
सव्व दव्व के सवंग जो विचित्रता तरंग,
अंतरंग चिन्ह भिन्न भिन्न सो दिपंत हैं।।

एक ही समै सु एक बार ही लख्यौ तिन्हें,
प्रतच्छ अंतरंग छेद स्वच्छता धरंत हैं।।
छायकीय ज्ञान है यही त्रिलोकवंद वृन्द,
जो समौ विषम्य में समान भासवंत है।।२१८।।

(समविषमकथन) – मनहरण

कोऊ द्रव्य काहू के समान न विराजत है,
याही तैं विषम सो वखानै गुरु ग्रन्थ में।
मति श्रुति [१]औध मनपर्ज के विषय तेऊ,
विषम कहावत छयोपशम पंथ में।।
सर्व कर्म सर्वथा विनाशि के प्रतच्छ स्वच्छ,
छायक ही ज्ञान सिद्ध भयौ श्रुति मंथ में।
सोई सर्व दर्व को विलोकै एकै समैमाहिं,
महिमा न जा सकी समात [२]ग्रंथकंथ में।।२१९।।

(४८)

जो सभी को नहीं जानता वह एक को नहीं जानता।

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा।।४८।।

अर्थात् जो एक ही साथ त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ (–तीनों काल के और तीनों लोक के) पदार्थों को नहीं जानता, उसे पर्याय सहित एक द्रव्य भी जानना शक्य नहीं है।

मनहरण

तीनों लोक माहिं जे पदारथ विराजैं तिहूँ,
काल के अनंतानंत जासु में विभेद है।

१– अवधिज्ञान। २. ग्रंथरूपी कथा में–वस्त्र में।

तिनको प्रतच्छ एक समै ही में एकै बार,
जो न जानि सकै स्वच्छ अंतर उछेद है।।
सो न एक दर्वहू को सर्व परजायजुत,
जानिवेकी शक्ति धरै ऐसे भने वेद है।
तातैं ज्ञान छायक की शक्ति व्यक्त वृन्दावन,
सोई लखै आप-पर सर्वभेद छेद है।।२२०।।

(४९)

एक को नहीं जानता वह सभी को भी नहीं जान सकता

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि।।४९।।

अर्थात् यदि अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्य को (-आत्मद्रव्य को) तथा अनन्त द्रव्यसमूह को एक ही साथ नहीं जानता तो वह पुरुष सबको (-अनन्त द्रव्यसमूह को) कैसे जान सकेगा? (अर्थात् जो आत्मद्रव्य को नहीं जानता हो वह समस्त द्रव्यसमूह को नहीं जा सकता)। ''

मत्तगयन्द

जो यह एक चिदातम द्रव्य, अनन्त धरै गुनपर्यय सारो।
ताकहँ जो नहिं जानतु है, परतच्छपने सरवंग सुधारो।।
सो तब क्यों करिके सब द्रव्य, अनन्त अनन्त दशाजुत न्यारो।
एकहि काल में जानि सकै यह, ज्ञान की रीति को क्यों न विचारो।।२२१।।

मनहरण

घातिकर्म घात के प्रगट्यो ज्ञान छायक सो,
दर्वदिष्टि देखते अभेद सरवंग है।
ज्ञेयनिके जानिवेतैं सोई है अनंत रूप,
ऐसे एक औ अनेक ज्ञान की तरंग है।।

तातैं एक आतमा के जाने ही तैं वृन्दावन,
सर्व दर्व जाने जात ऐसोई प्रसंग है।
केवली के ज्ञान की अपेच्छातैं कथन यह,
मथन करी है कुन्दकुन्दजी अभंग है।।२२२।।

(५०)

क्रमिक ज्ञान में सर्वज्ञता का अभाव

उपज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं।।५०।।

अर्थात् यदि आत्मा का ज्ञान क्रमश: पदार्थों का अवलम्बन लेकर उत्पन्न होता हो तो वह (ज्ञान) नित्य नहीं है, क्षायिक नहीं है, और सर्वगत नहीं है।

अरिल्ल

जो ज्ञाता को ज्ञान अनुक्रम को गही,
वस्तुनिको अवलंबत उपजत है सही।
सो नहिं नित्य न छायक नहिं सरवज्ञ है,
पराधीन तसु ज्ञान सो जन अलपज्ञ है।।२२३।।

(५१)

सर्वज्ञ ज्ञान की महिमा

तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थसंभवं चित्तं।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं।।५१।।

अर्थात् तीनों काल में सदा विषम (असमान जाति के), सर्व क्षेत्र के अनेक प्रकार के समस्त पदार्थों को जिनदेव का ज्ञान एक साथ जानता है, अहो! ज्ञान का माहात्म्य!

मनहरण

तिहूँ कालमाहिं नित विषम पदारथ जे,
सर्व सर्वलोक में विराजैं नाना रूप है।
एकै बार जानै फेरि छांडैं नाहिं संग ताको,
[1]संग की सी रेखा तथा सदा संगभूप है।।
अमल अचल अविनाशी ज्ञानपरकाश,
सहज सुभाविक सुधारस को कूप है।
श्री जिनिंददेव जू के ज्ञान गुन छायक की,
अहो भविवृन्द यह महिमा अनूप है।।२२४।।
कोऊ मूरतीक कोऊ मूरतिरहित द्रव्य,
काहु के न काय कोऊ द्रव्य कायवन्त है।
कोऊ जड़रूप कोऊ चिदानन्दरूप यातैं,
सर्व दर्व सम नाहिं विषम भनन्त है।।
तिनके त्रिकाल के अनन्त गुनपरजाय,
नित्यानित्यरूप जे विचित्रता धरन्त है।
सर्व को प्रतच्छ एक समै में ही जानै ऐसे
ज्ञानगुन छायक की महिमा अनन्त है।।२२५।।

(५२)

सर्वज्ञतारूप ज्ञप्तिक्रिया होने पर भी बन्धन का अभाव

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो।।५२।।

अर्थात् (केवलज्ञानी) आत्मा पदार्थों को जानता हुआ भी उसरूप परिणमित नहीं होता, उन्हें ग्रहण नहीं करता और उन पदार्थों के रूप में उत्पन्न नहीं होत, इसलिए उसे अबन्धक कहा है।

१- पत्थर की रेखा।

मनहरण

शुद्ध ज्ञानरूप सरवंग जिनभूप आप,
सहज-सुभाव-सुखसिंधु में मगन है।।
तिन्हैं परवस्तु के न जानिवेकी इच्छा होत,
जातैं तहाँ मोहादि विभाव की भगन है।
तातैं पररूप न प्रनवै न गहन करै,
पराधीन ज्ञान की न कबहूँ जगन है।।
ताहीतैं अबन्ध वह ज्ञानक्रिया सदाकाल,
आतमप्रकाश ही में जा सकी लगन है।।२२६।।

दोहा

क्रिया दोइ विधि वरनई, प्रथम प्रज्ञप्ती जानि।
ज्ञेयारथ परिवरतनी, दूजी क्रिया बखानि।।२२७।।

अमलज्ञानदरपन विषैं, ज्ञेय सकल झलकंत।
प्रज्ञप्ती है नाम तसु, तहां न बंध लसंत।।२२८।।

ज्ञेयारथ परिवरतनी, रागादिकजुत होत।
जैसो भावविकार तहँ, तैसो बंध उदोत।।२२९।।

पद्धति का-पद्धड़ी (अधिकारान्त मंगल)

ज्ञानाधिकार यह मुकतिपंथ। गुरु कथी सारश्रुतिसिंधु मंथ।
मुनि कुन्दकुन्द के जंगल पंथ। वृन्दावन वन्दत शीस नाय।

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत परमागम श्री प्रवचनसारजी की वृन्दावनकृत भाषा में प्रथम ज्ञानाधिकार पूरा भया[1]।

१- (क प्रति में) 'मिती कार्तिक कृष्णा १४ चौदश संवत् १९०५ बुधवारे (ख प्रति में) संवत् १९०६ चैत्र शुक्ला पूर्णमास्याम् मन्दवासरे।' इस प्रकार लिखा है।

अथ द्वितीयसुखाधिकारः प्रारभ्यते

मंगलाचरण

चरनकमल कमला बसत, सारद सुमुखनिवास।
देवदेव सो देव मो, कमला वागविलास।।१।।

श्री सरवज्ञ प्रनाम करि, कुन्दकुन्द मुनि वंदि।
वरनों सुखअधिकार अब, भवि उर-भरम निकंदि।।२।।

(१)

गाथा-५३ कौन सा ज्ञान, सुख और हेय-उपादेय है?

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं।।५३।।

अर्थात् पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान अमूर्त या मूर्त, अतीन्द्रिय या एकेन्द्रिय होता है; और इसी प्रकार (अमूर्त या मूर्त, अतीन्द्रिय या एकेन्द्रिय) सुख होता है। उसमें जो प्रधान - उत्कृष्ट है, वह उपादेयरूप जानना।

मनहरण

[1]अर्थनिकेमाहिं जो अतीन्द्रीयज्ञान राजत है,
सोई तो अमूरतीक अचल अमल है।
बहुरि जो इन्द्रिय जनित ज्ञान उपजत,
सोई मूरतीक नाम पावत समल है।।
ताही भांति सुखहू अतीन्द्री है अमूरतीक,
इन्द्रीसुखमूरतीक सोऊ न विमल है।

१- पदार्थों में।

दोऊ में परम उतकृष्ट होय गहो ताहि,
सोई ज्ञान सुख शिवरमा को कमल है।।३।।

अतीन्द्रियज्ञान सुख आतमसुभाविक है,
एक रस सासतो अखण्ड धार बहै है।
शत्रु को विनाशि के उपज्यो है अबाधरूप,
सर्वथा निजातमीक-धर्म को गहै है।।
इन्द्रीयज्ञानसुख पराधीन है विनाशिक है,
तातैं याको हेय जानि ऐसो गुरु कहै है।
ज्ञानसुखपिण्ड चिनमूरति है वृन्दावन,
धर्मी में अनन्त धर्म जुदे-जुदे रहे है।।४।।

(२)

गाथा-५४ अतीन्द्रिय सुख के कारणरूप अतीन्द्रिय ज्ञान की उपादेयता और प्रशंसा

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं।।५४।।

अर्थात् देखनेवाले का जो ज्ञान अमूर्त को, मूर्त पदार्थों में भी अतीन्द्रिय को, और प्रच्छन्न को, इन सबको - स्व तथा पर को देखता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।

जाकी ज्ञानप्रभा में अमूरतीक सर्व दर्व,
तथा जे अतीन्द्रीयगम्य अनू पुद्गल के।
तथा जे प्रछन्न द्रव्य क्षेत्र काल भाव चार,
सहितविशेष वृन्द निज निज थल के।।
और निज आतम के सकल विभेद भाव,
तथा परद्रव्यनि के जेते भेद ललके।

ताही ज्ञानवन्त को प्रतच्छ स्वच्छ ज्ञान जानो,
जामें ये समस्त एक समैही में झलके।।५।।

(३) गाथा-५५ इन्द्रियसुख का कारणरूप ज्ञान हेय है-निंद्य है

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तं ण जाणादि।।५५।।

अर्थात् स्वयं अमूर्त ऐसा जीव मूर्त शरीर को प्राप्त होता हुआ, उस मूर्त शरीर के द्वारा योग्य मूर्त पदार्थ को अवग्रह करके (-इन्द्रियग्रहणयोग्य मूर्त पदार्थ का अवग्रह करके) उसे जानता है अथवा नहीं जानता (-कभी जानता है और कभी नहीं जानता)।

जीव है सुभावही तैं स्वयंसिद्ध अमूरत,
द्रव्य द्वार देखते न यामें कछु फेर है।
सोई फेर निश्चैसों अनादि कर्मबंध जोग,
मूरतीक दीखै जैसो देह को गहे रहै।।
ताही मूरतीक तैं सुजोग मूर्त पदारथ,
तिनको अवग्रहादिक तैं जानते रहै।।
अथवा छयोपशम मन्दता भयेतैं सोई,
थूल मूरतीक हू न जानत किते रहै।।६।।

दोहा

देह धरेतैं आतमा, द्रव्येन्द्रिनि के द्वार।
निकट थूल मूरत दरब; तिनको जाननिहार।।७।।
अथवा छय उपशम घटैं, निपट निकट जे वस्त।
तिनहुँ न जानि सकै कभी, यह जगविदित समस्त।।८।।

पंचिन्द्रिनि के विषय को, जानि अनुभवै सोय।
इन्द्रियसुख सो जानियो, मूरतीक में होय।।९।।

यातैं ज्ञानौ सुख दोऊ, बसहिं सदा इक संग।
मूरतिमाहिं मूरतिक, इतरमाहिं तदरंग।।१०।।

फरस रूप रस गंध अरु, श्रवनिन्द्रिनि के भोग।
ज्ञानद्वारतैं जानि के, सुख अनुभव तपयोग।।११।।

यातैं ज्ञानरु सौख्य को, अविनाभावी संग।
चिद्विलासही में बसत, उपजहि संग उमंग।।१२।।

इन्द्रियज्ञानरु सौख्य जिमि, मूरतीक में जान।
तथा अतिन्द्रियज्ञान सुख, बसत अतिन्द्रियथान।।१३।।

कहा कहों नहिं कहि सकों, वचनगम्य नहिं येह।
अनुभव नयन उघारि घट, वृन्दावन लखि लेह।।१४।।

(जीवदशा) मनहरण

अनादितैं महामोह मदिरा को पान किये,
ठौर ठौर करत उराहने को काम है।
अज्ञान अँधार में सँभारै न शकति निज,
इन्द्रिनि के लारे किये देह ही में धाम है।।
लपटि झपटि गहै मूरतीक भोगनि को,
शुद्ध ज्ञान दशा सेती भई बुद्धि वाम है।
ऐसी मूरतीक ज्ञान परोच्छ की लीला वृन्द,
भाषी कुन्दकुन्द गुरु तिनको प्रनाम है।।१५।।

(४) गाथा-५६ इन्द्रियाँ मात्र अपने विषयों में भी एक साथ अपना काम नहिं कर सकतीं अतः वह हेय ही हैं।

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पोग्गला होंति।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ।।५६।।

अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द पुद्गल हैं, वे इन्द्रियों के विषर्य हैं (परन्तु) वे इन्द्रियाँ उन्हें (भी) एक साथ ग्रहण नहीं करतीं (नहीं जान सकतीं)।

षट्पद

फरस रूप रस गंध, शब्द ये पुग्गलीक हैं।
पंचेन्द्रिनि के जथाजोग ये, भोग ठीक हैं।।
सब इन्द्री निज मोगन, जुगपत गहन करैं हैं।
छय उपशम क्रमसहित, भोग अनुभवत रहैं हैं।।
ज्यों काक लखत दो नयनतैं, एक पूतली फिरनिकर।
जुगपत नव भेदि सलखि सक्त, त्यों इन्द्रिनि की रीत तर।।१६।।

जीव जीभ के स्वादमाहिं, जिहि काल पगै है।
अन्येन्द्रिनि के भोग में न, तब भाव लगै है।।
निज निज रस सब गहैं, जदपि यह सकति अच्छमहँ।
तदपि न एकै काल, सकल रस अनुभवते तहँ।।
रस वेदहिं क्रम ही सों सभी, छय उपशम की सकति यहि।
जातैं परोच्छ यह ज्ञान है, पराधीन मूरति सु गहि।।१७।।

दोहा

यह परोच्छ ही ज्ञान तैं, इन्द्रिनि को रस जान।
चिदानन्द सुख अनुभवहि, जेतो ज्ञान प्रमान।।१८।।

तातैं ज्ञान रु सुख दोऊ, हैं परोच्छ परतन्त।
मूरतीक बाधा सहित, यातैं हेय अनंत।।१९।।

(५) गाथा–५७ इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है।

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ।।५७।।

अर्थात् वे इन्द्रियाँ परद्रव्य हैं, उन्हें आत्मस्वभावरूप नहीं कहा है; उनके द्वारा ज्ञात आत्मा का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है?

छन्द सवैया

जे परदरबमई हैं इन्द्री, ते पुद्गल के बने बनाव।
चिदानंद चिद्रूप भूप को, यामैं नाहीं कहूं सुभाव।।
तिन करि जो जानत है आतम, सो किमि होय प्रतच्छ लखाव।
पराधीन तातैं परोच्छ यह, इन्द्रीजनित ज्ञान ठहराव।।२०।।

मत्तगयन्द

पुद्गलदर्वमई सब इन्द्रिय, तासु सुभाव सदा जड़ जानो।
आतम को तिहुंकाल विषैं, नित चेतनवंत सुभाव प्रमानो।।
तौ यह इन्द्रियज्ञान कहो, किहि भांति प्रतच्छ कहाँ ठहरानो।
तातैं परोच्छ तथा परतंत्र, सु इन्द्रियज्ञान भनौ भगवानो।।२१।।

(६) गाथा–५८ परोक्ष–प्रत्यक्ष के लक्षण

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं ति भणिदमट्ठेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं।।५८।।

अर्थात् पर के द्वारा होनेवाला जो पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान है, वह तो परोक्ष कहा गया है, यदि मात्र जीव के द्वारा ही जाना जाये तो वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।

मनहरण

पर के सहायतैं जो वस्तु में उपजै ज्ञान,
सोई है परोच्छ तासु भेद सुनो कानतैं।
जथा उपदेश वा छयोपशम लाभ तथा,
पूर्व के अभ्यास वा प्रकाशादिक भानतैं।।
और जो अकेले निज ज्ञान ही तैं जानैं जीव,
सोइ है प्रतच्छ ज्ञान साधित प्रमानतैं।
जातैं यह पर की सहाय विन होत वृन्द,
अतिन्द्रिय आनन्द को कन्द अमलानतैं।।२२।।

(७) गाथा–५९ अब प्रत्यक्षज्ञान को पारमार्थिक सुख दिखाते हैं।

जादं सयं समंतं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं।
रहिदं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणिदं ।।५९।।

अर्थात् अपने आप ही उत्पन्न समंत (सर्व प्रदेशों से जानता हुआ) अनन्त पदार्थों में विस्तृत विमल और अवग्रहादि से रहित ऐसा ज्ञान ऐकान्तिक सुख है ऐसा (सर्वज्ञदेव ने) कहा है।

मनहरण

ऐसो ज्ञान ही को 'सुख' नाम जिनराज कह्यो,
जौन ज्ञान आपने सुभाव ही सों जगा है।
निरावर्नताई सरवंग जामें आई औ जु,
अनन्ते पदारथ में फैलि जगमगा है।।
विमल सरूप है अभंग सरवंग जाको,
जामें अवग्रहादि क्रिया को क्रम भगा है।

सोई है प्रतच्छ ज्ञान अतिंद्री अनाकुलित,
याही तैं अतिन्द्रियसुख याको नाम पगा है।।२३।।

(८) गाथा–६० अब केवलज्ञान को भी परिणाम के द्वारा दुःख होगा? समाधान–

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा।।६०।।

अर्थात् जो 'केवल' नाम का ज्ञान है वह सुख है परिणाम भी वही है उसे खेद नहीं कहा है (अर्थात् केवलज्ञान में सर्वज्ञदेव ने खेद नहीं कहा) क्योंकि घातिकर्म क्षय को प्राप्त हुए हैं।

मत्तगयन्द

केवलनाम जो ज्ञान कहावत, है सुखरूप निराकुल सोई।
ज्ञायकरूप वही परिनाम, न खेद कहूं तिन्हि के मधि होई।।
खेद को कारण घातिय कर्म, सो मूलतैं नाश भयो मल धोई।
यातैं अतिन्द्रिय ज्ञान सोई, सुख है निहचै नहिं संशय कोई।।२४।।

मनहरण

घातिया करम यही ज्ञानमाहिं खेद करै,
जातैं मोह उदै मतवालो होत आतमा।
झूठी वस्तुमाहिं बुद्धि सांची करि धावतु है,
खेदजुत इन्द्री विषै जानै बहु भांतमा।।
जाके घाति कर्म को सरवथा विनाश भयो,
जग्यो ज्ञान केवल अनाकुल विख्यातमा।
त्रिकाल के ज्ञेय एकै बार चित्रभीतवत,
जानै जोई ज्ञान सोई सुख है अध्यातमा।।२५।।

(९) गाथा-६१ केवलज्ञान सुख स्वरूप है

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ।।६१।।

अर्थात् ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त है और दर्शन लोकालोक में विस्तृत है; सर्व अनिष्ट नष्ट हो चुका है और जो इष्ट है वह सब प्राप्त हुआ है। (इसलिए केवल अर्थात् केवलज्ञान सुखस्वरूप है।)

मत्तगयन्द

केवलज्ञान अनन्त प्रमातैं, पदारथ के सब पार गया है।
लोक अलोकविषैं जसु दिष्टि, विशिष्टपनें विसतार लया है।।
सर्व अनिष्ट विनष्ट भये, औ जु इष्ट सुभाव सो लाभ लया है।
यातैं अभेद दशा करिकै यह, ज्ञानहि को सुख सिद्ध ठया है।।२६।।

दोहा

जब ही घाति विघाति के, शुद्ध होय सरवंग।
ज्ञानादिक गुन जीव के, सोई सौख्य अभंग।।२७।।

निजाधीन जानै लखै, सकल पदारथ वृन्द।
खेद न तामैं होत कछु, केवलजोति सुछन्द।।२८।।

तातैं याही ज्ञान को, सुखकरि बरनन कीन।
भेदविविच्छा छांड़ि के, कुन्दकुन्द परवीन।।२९।।

(१०) गाथा-६२ केवलियों के ही पारमार्थिक सुख है।

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ।।६२।।

अर्थात् 'जिनके घातिकर्म नष्ट हो गये हैं, उनका सुख (सर्व) सुखों में

परम अर्थात् उत्कृष्ट हैं' ऐसा वचन सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते वे अभव्य हैं; और भव्य उसे स्वीकार (आदर) करते हैं – उसकी श्रद्धा करते हैं।

माधवी

जिनको यह घातियकर्म विघातिकैं, केवल जोति अनन्त पुरी है।
सुख में उतकिष्ट अतीन्द्रिय सौख्य, तिन्हैं सरवंग अमंग पुरी है।।
तिसको न अभव्य प्रतीत करैं, पुनि दूर हु भव्य की बुद्धि दुरी है।
यह बात वही शरवा धरि हैं, जिनके भव की थिति आनि जुरी है।।३०।।

दोहा

इन्द्रीयसुखजुत मुक्ति जे, मानहिं मूढ़ अबान।
तिनको मत शतखंड करि, श्रीगुरु हनी निशान।।३१।।

(११) गाथा–६३ अपारमार्थिक इन्द्रियसुख

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुदा इंदिएहिं सहजेहिं।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ।।६३।।

अर्थात् मनुष्येन्द्र (चक्रवर्ती) असुरेन्द्र और सुरेन्द्र स्वाभाविक (परोक्षज्ञानवालों को जो स्वाभाविक है ऐसी) इन्द्रियों से पीड़ित वर्तते हुए उस दुःख को सहन न कर सकने से रम्य विषयों में रमण करते हैं।

माधवी

नर इन्द्र सुरासुर इन्द्रनिको, सहजै जब इन्द्रियरोग सतावै।
तब पीड़ित होकर [१]भोगन को, नित भोग [२]मनोगनमाहिं रसावै।।
तहाँ चाह की दाह नवीन बढ़ै, घृत आहुति में जिमि आग जगावै।।
सहजानन्द बोध विलास बिना, नहिं ओस के बूंद सों प्यास बुझावै।।३२।।

१– इन्द्रियों को। २. मनोज।

दोहा

स्वर्ग विषैं इन्द्रादि को इन्द्रिय सुख भरपूर।
सोउ खेद बाधा सहित, सहजानँद तैं दूर।।३३।।

तातैं इन्द्रीजनित सुख [१]हेयरूप पहिचान।
ज्ञानानन्द अनच्छसुख, करो सुधारस पान।।३४।।

(१२) गाथा-६४ इन्द्रियों के आलंबन में स्वाभाविक दु:ख ही है।

जेसिं विसएसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं।।६४।।

अर्थात् जिन्हें विषयों में रति है, उन्हें दु:ख स्वाभाविक जानो; क्योंकि यदि वह दु:ख स्वभाव न हो तो विषयार्थ में व्यापार न हो।

षट्पद

जिन जीवनि को विषयमाहिं, रतिरूप भाव है।
तिनके उर में सहज, दु:ख दीखत जनाव है।।
जो सुभावतैं दु:खरूप, इन्द्री नहिं होई।
तो विषयनि के हेत, करत व्यापार न कोई।।
[२]करि [३]मच्छ [४]द्विरेफ [५]शलभ, [६]हरिन, विषयनि-वश तन परहरहिं।
यातैं इन्द्रीसुख दुखमई, कही सुगुरु [७]भवि उर धरहिं।।३५।।

---

१. त्याज्य। २. हाथी। ३. मछली। ४. भ्रमर।
५. पतंग। ६. हिरण। ७. भव्यजीव।

(१३) गाथा-६५ सिद्धभगवान को शरीर बिना भी सुख है, संसारदशा में शरीर सुख का साधन नहीं

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो।।६५।।

अर्थात् स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ जिनका आश्रय लेती हैं, ऐसे इष्ट विषयों को पाकर (अपने शुद्ध) स्वभाव से परिणमन करता हुआ आत्मा स्वयं ही सुखरूप (इन्द्रियसुखरूप) होता है देह सुखरूप नहीं होती।

मनहरण

संसार अवस्थाहू में विभाव सुभाव ही सों,
यही जीव आप सुखरूप छवि देत है।
जातैं पंच इन्द्रियनि को पायकै मनोग भोग,
ताको रस ज्ञायक सुभाव ही सों लेत है।।
देह तो प्रगट जड़ पुग्गल को पिंड तामें,
ज्ञायकता कहाँ जाको सुभाव अचेत है।
तातैं जक्त मुक्त दोऊ दशामाहिं वृन्दावन,
सुखरूप भावनि को आतमा निकेत है।।३६।।

(१४) गाथा-६६ यही बात दृढ़ करते हैं।

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा।।६६।।

अर्थात् एकान्त से अर्थात् नियम से स्वर्ग में भी शरीर शरीरी (- आत्मा को) सुख नहीं देता परन्तु विषयों के वश से सुख अथवा दु:खरूप स्वयं आत्मा होता है।

सर्वथा प्रकार देवलोकहू में देखिये तो,
देह ही चिदातम को सुख नाहिं करै है।
जद्दपि सुरग उतकिष्ट भोग उत्तम औ,
वैक्रियक काय सर्व पुण्य जोग भरै है।।
तहाँ विषयनि के विवश भयो जीव आप,
आप ही सुखासुखादि भावनि आदरै है।
ज्ञायक सुभाव चिदानंदकंद ही में वृन्द,
तातैं चिदानन्द दोऊ दशा आप धरै है।।३७।।

(१५) गाथा-६७ जीव स्वयमेव सुख परिणाम का शक्तिवान् होने से विषयों का अकिंचनत्व

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति।।६७।।

अर्थात् यदि प्राणी की दृष्टि तिमिरनाशक हो तो दीपक से कोई प्रयोजन नहीं है, अर्थात् दीपक कुछ नहीं कर सकता, उसी प्रकार जहाँ आत्मा स्वयं सुखरूप परिणमन करता है वहाँ विषय क्या कर सकते हैं?।

चौबोला

जिन जीवनि की तिमिर हरन की, जो सुभावो सों दृष्टि....।
तौ तिनको दीपक प्रकाशतैं, रंच प्रयोजन नाहिं चहै।।
तैसे सुखसुरूप यह आतम, आप स्वयं सरवंग लहै।
तहाँ विषय कहा करहिं वृन्द जहँ, सुधा सुभाविकसिन्धु बहै।।३८।।

(१६) गाथा-६८ आत्मा का सुखस्वभाव है-दृष्टान्त

सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे तहा देवो ।।६८।।

अर्थात् जैसे आकाश में सूर्य अपने आप ही तेज, उष्ण और देव है, उसी प्रकार लोक में सिद्ध भगवान भी (स्वयमेव) ज्ञान सुख और देव हैं।

मत्तगयन्द

ज्यों नभ में रवि आपुहि तैं, धरै तेज प्रकाश तथा गरमाई।
देवप्रकृति उदै करिकै, इस लोकविषैं वह देव कहाई।।
ताही प्रकार विशुद्ध दशा करि, सिद्धनि के मुनिवृन्द बताई।
ज्ञानरु सौख्य लसे सरवंग, सो देव अभंग नमों सिरनाई।।३९।।

मनहरण

प्रभा और उष्ण तथा देवपद,
तीनों ही विशेषनि को धरै मारतण्ड है।
तैसे परमातम में सुपरप्रकाशक,
अनन्त शक्ति चेतन सो ज्ञानगुनमण्ड है।।
तथा आतमीक तृप्ति अनाकुल थिरता सों,
सहज सुभाव सुखसुधा को उमण्ड है।
आत्मानुभवी के सुभाव शिलामाहिं सो,
उकीरमान, जक्तपूज्य देवता अखण्ड है।।४०।।

दोहा

अतिइन्द्री सुख को परम, पूरन भयो विधान।
कुन्दकुन्द मुनि को करत, वृन्दावन नित ध्यान।।४१।।

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत परमागम श्री प्रवचनसारजी की वृन्दावनकृतभाषा में दूसरा सुख अधिकार पूर्ण भया।[१]

❀ ❀ ❀

१. संवत् १९०५ कार्तिक शुक्ला ५ बुधवासरे।

१. ऐसा ही ख प्रति में है।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

अथ तृतीयज्ञानतत्त्वाधिकारः लिख्यते

मंगलाचरण

दोहा

वन्दों श्री सर्वज्ञपद, ज्ञानानन्द सुचेत।
जसु प्रसाद वरनन करों, इन्द्रिय सुख को हेत।।

(१) गाथा–६९ इन्द्रियसुख और उसके साधन (शुभोपयोग) का स्वरूप

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ।।६९।।

अर्थात् देव, गुरु और यति की पूजा में, दान में एवं सुशीलों में और उपवासादिक में लीन आत्मा शुभोपयोगात्मक है।

मत्तगयन्द

जो जन श्रीजिनदेव–जती गुरु, –पूजनमाहिं रहै अनुरागी।
चार प्रकार के दान कर नित, शील विषैं दिढ़ता मन पागी।।
आदरसों उपवास करै, समता धरिकै ममता मद त्यागी।
सो शुभरूपयोग धनी, वर पुण्य को बीज बबै बड़भागी।।१।।

(२) गाथा–७० शुभोपयोग साधन उनका साध्य इन्द्रियसुख

जुत्तो सुहेण आदा तिरिओ वा माणुसो व देवो वा।
भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इंदियं विविहं।।७०।।

अर्थात् शुभोपयोगयुक्त आत्मा तिर्यञ्च, मनुष्य अथवा देव होकर, उतने समम तक विविध इन्द्रियसुख प्राप्त करता है।

कवित्त (३१ मात्रा)

शुभपरिनामसहित आतम की, दशा सुनो भवि वृन्द सयान।
उत्तम पशु अथवा उत्तम नर, तथा देवपद लहै सुजान।।
थिति परिमान पंच इन्द्रिनि के, सुख विलसै तित विविध विधान।
फेरि भ्रमै भवसागर ही में, तातैं शुद्धपयोग प्रधान।।२।।

(३) गाथा–७१ इस प्रकार उसे दु:ख में ही डालते हैं

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु।।७१।।

अर्थात् (जिनेन्द्रदेव के) उपेदश से सिद्ध है कि देवों के भी स्वभावसिद्ध सुख नहीं है; वे (पञ्चेन्द्रियमय) देह की वेदना से पीड़ित होने से रम्य विषयों में रमते हैं।

मत्तगयन्द

देवनि के अनिमादिक रिद्धि की, वृद्धि अनेक प्रकार कही है।
तौ भी अतिंद्रियरूप अनाकुल, ताहि सुभाविक सौख्य नहीं है।।
यों परमागममाहिं कही गुरु, और सुनो जो तहाँ नित ही है।
देहविथाकरि भोग मनोगनिमाहिं, रमै समता न लही है।।३।।

(४) गाथा ७२ अब शुद्धोपयोग से विलक्षण अशुद्ध उपयोग अत: शुभ–अशुभ में अविशेषता

णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं।।७२।।

अर्थात् मनुष्य, नारकी, तिर्यञ्च और देव (–सभी) यदि देहोत्पन्न

दु:ख को अनुभव करते हैं, तो जीवों का वह (शुद्धोपयोग से विलक्षण-अशुद्ध) उपयोग शुभ और अशुभ - दो प्रकार का कैसे है? (अर्थात् नहीं है।)

मत्तगयन्द

जो नर नारक देव पशू सब, देहज दु:खविषैं अकुलाहीं।
तो तिनके उपयोग शुभाशुभ को, फल क्यों करिकै विलगाहीं।।
जातैं निजातम पर्म सुधर्म, अतिन्द्रिय शर्म नहीं तिनपाहीं।
तो भविवृन्द विचार करो अब, कौन विशेष शुभाशुभमाहीं।।४।।

दोहा

शुभपयोग देवादि फल, अशुभ दुखदफल नर्क।
शुद्धातम सुख को नहीं, दोनों में संपर्क।।५।।

तब शुभ अशुभपयोग को, फल समान पहिचान।
कारज को सम देखिकै, कारन हू सम मान।।६।।

तातैं इन्द्रीजनित सुख, साधक शुभउपयोग।
अशुभपयोग समान गुरु, वरनी शुद्ध नियोग।।७।।

(५) गाथा-७३ सुखाभास की अस्ति

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा।।७३।।

अर्थात् वज्रधर और चक्रधर (इन्द्र और चक्रवर्ती) शुभोपयोगमूलक (पुण्यों के फलरूप) भोगों के द्वारा देहादि की पुष्टि करते हैं और (इस प्रकार) भोगों में रत वर्तते हुए सुखी जैसे भासित होते हैं। (इसलिए पुण्य विद्यमान अवश्य है।)

अशोक पुष्पमंजरी

वज्रपानि चक्रपानि जे प्रधान [1]जक्तमानि,
ते शुभोपयोगतैं भये जु सार भोग है।
तासुतैं शरीर और पंच अच्छपच्छ को,
सुपोषते बढ़ावते रमावते मनोग है।।
लोक में विलोकते सुखी समान भासते,
[2]जथैव जोंक रोग के विकारी रक्त को गहै।
चाह दाहसों दहै न [3]सामभाव को लहै,
निजातमीक धर्म को तहां नहीं सँजोग है।।८।।

(६) गाथा ७४ पुण्य तृष्णा-दुःखकारी है

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ।।७४।।

अर्थात् (पूर्वोक्त प्रकार से) यदि (शुभोपयोगरूप) परिणाम से उत्पन्न होनेवाले विविध पुण्य विद्यमान हैं, तो वे देवों तक के जीवों को विषयतृष्णा उत्पन्न करते हैं।

कवित्त (३१ मात्रा)

जो निहचै करि शुभपयोगतैं, उपजत विविध पुण्य की रास।
स्वर्गवर्ग में देवनि के वा, भवनत्रिक में प्रगट प्रकास।।
तहाँ तिन्हैं तृष्णानल बाढ़त, पाय भोग-घृत आहुति ग्रास।
जातैं वृन्द सुधा-समरस बिन, कबहुँ न मिटत जीव की प्यास।।९।।

(७) गाथा ७५ पुण्य में तृष्णा बीज वृद्धि को प्राप्त होते हैं

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि।
इच्छंति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ।।७५।।

---

१. जगन्मान्य। २. यथा एव=जैसे ही। ३. साम्यभाव=समता।

अर्थात् और, जिनकी तृष्णा उदित है – ऐसे वे जीव तृष्णाओं के द्वारा दु:खी होते हुए, मरणपर्यन्त विषयसुखों को चाहते हैं और दु:खों से संतप्त होते हुए (–दु:खदाह को सहन न करते हुए) उन्हें भोगते हैं।

मनहरण

देवनि को आदि लै जितेक जीवराशि ते ते,
विषै सुख आयुपरजंत सब चाहैं हैं।
बहुरि सो भोगनि को बार बार भोगत हैं,
तिशना तरंग तिन्हैं उठत अथाहैं हैं।।
आगामीक भोगनि की चाह दुख दाह बढ़ी,
तासु की सदैव पीर भरी उर माहैं हैं।
जथा जोंक रकत विकार को तब लों गहै,
जौलों शठ प्राणांत दशा को आय गाहैं हैं।।१०।।

(८) गाथा–७६ पुण्यजन्य इन्द्रियसुख का बहुत प्रकार से दुखत्व

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ।।७६।।

अर्थात् जो इन्द्रियों से प्राप्त होता है वह सुख परसम्बन्धयुक्त, बाधासहित विच्छिन्न बन्ध का कारण और विषम है; इस प्रकार वह दु:ख ही है।

कुण्डलिया

इन्द्रियजनित जितेक सुख, तामें पंच विशेष।
पराधीन बाधासहित, छिन्नरूप तसु भेष।।
छिन्नरूप तसु भेष, विषम अरु बंध बढ़ावै।
यही विशेषन पंच, पापहू में ठहराव।।

तब अबको बुधिमान, चहै इन्द्रीसुख गिंदी।
तातैं भजत विवेकवान, सुख अमल अतिंदी।।११।।

(९) गाथा–७७ पुण्य–पाप कथंचित् समान हैं।

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ।।७७।।

अर्थात् इस प्रकार पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है ऐसा जो नहीं मानता, वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है।

मत्तगयन्द

पुण्य रु पायविषैं नहिं भेद, कछू परमारथतैं ठहरै है।
जो इस भाँत न मानत है, बहिरातम बुद्धि वही गहरै है।।
सो जन मोह अछादित होय, भवोदधि घोर विषैं लहरै है।
ताहि न वार न पार मिलै, दुखरूप चहूंगति में हहरै है।।१२।।

जैसे शुभाशुभ में नहिं भेद, न भेद भने सुख दुःख के माहीं।
ताही प्रकारतैं पुण्यरु पाप में, भेद नहीं परमारथठाहीं।
जातैं जहाँ न निजातम धर्म, तहां चित्त चाह की दाह सदाहीं।
तातैं सुरिंदहिमिंद नरिंद की, संपति को चित्त चाहत नाहीं।।१३।।

पद्धतिका (पद्धरी छंद)

जे जीव पुण्य अरु पापमाहिं। माने विभेद हंकार गाहिं।
[१]हेमाहन की बेड़ी समान। हैं बंध प्रगट दोनों निदान।।१४।।

परिपूरन जे धर्मानुराग। अवलंबैं शुद्धपयोग त्याग।
ताके फलतैं अहमिन्द इन्द। नर इन्द संपदा लहैं वृन्द।।१५।।

१– सुवर्ण और लोहा।

तहाँ भोग मनोग शरीर पाय। विलसैं, सुख बहुविधि प्रमित आय।
तित आकुलता दुःख मिटैं नाहिं। तब कहो कहांतैं सुखी आहिं।।१६।।

(१०) गाथा-७८ पुण्य-पाप में बंधनत्व समान ही है। निर्णय करके राग-द्वेष-दुख को हटाने की दृढ़ता-शुद्धोपयोग का ग्रहण।

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ।।७८।।

अर्थात् इस प्रकार वस्तुस्वरूप को जानकर जो द्रव्यों के प्रति राग या द्वेष को प्राप्त नहीं होता, वह उपयोगविशुद्ध होता हुआ देहोत्पन्न दुःख का क्षय करता है।

मत्तगयन्द

जो नर या परकार जथारथ,-रूप पदारथ को उर आनै।
रागविरोधमई परिनाम, कभी परद्रव्य विषैं नहिं ठानै।।
सो उपयोग विशुद्ध धरे, सब देहज दुःखनि को नित मानै।
आनन्दकन्द-सुभाव-सुधामधि, लीन रहै तिहि वृन्द प्रमानै।।१७।।

दोहा

[1]आहनतैं [2]दाहन विलग, खात न घन की घात।
त्यों चेतन तनराग विनु, दुखलव दहत न गात।।१८।।

तातैं मुझ चिद्रूप को, शरन शुद्ध उपयोग।
होहु सदा जातैं मिटै, सकल दुखद भवरोग।।१९।।

१- लोहा। २. अग्नि।

(११) गाथा–७९ मोहक्षय की तैयारी

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं।।७९।।

अर्थात् पापारम्भ को छोड़कर शुभ चारित्र में उद्यत होने पर भी यदि जीव मोहादि को नहीं छोड़ता, तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं होता।

मत्तगयन्द

पाप अरंभ सभी परित्यागि के, जो शुभचारित में वरतंता।
जो यह मोह को आदि अनादि के, शत्रुनि को नहिं त्यागत संता।।
तो वह शुद्ध चिदानन्द सम्पति,–को तिरकाल विषैं न लहन्ता।
याही तैं मोह महारिपु की, रमनी दुरबुद्धि को त्यागहिं संता।।२०।।

दोहा

तात साध्यसरूप है, शुद्धरूप उपयोग।
ताके बाधक मोह को, दिढ़तर तजिवो जोग।।२१।।

जो शुभ ही चारित्र को, जाने शिवपद हेत।
तो वह कबहुं न पाय है, अमल निजातम चेत।।२२।।

(१२) गाथा–८० उसे जीतने का उपाय

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।८०।।

अर्थात् जो अरहन्त को द्रव्यपनें गुणपनें और पर्यायपनें जानता है, वह (अपने) आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्म लय को प्राप्त होता है।

हरिगीतिका

दरव-गुन-परजायकरि, अरहन्त को जो जानई।
घातिदल दलमल सकल, तसु अमलपद पहिचानई।।
सो पुरुष निज नित आत-भीक स्वरूप को जानै सही।
तासके निहचैपनै सों, मोह नाश लहै यही।।२३।।

मनहरण

जैसे बारै बानी को पकायौ भयौ चामीकर,
सर्वथा प्रकार होत शुद्ध निकलंक है।
तैसे शुद्ध ध्यानानल जोगतैं करममल,
नासिके अमल अरहंत जू अटंक है।।
तिनके दरव में जु ज्ञानादि विशेषन हैं,
तिनही को गुन नाम भाषत निशंक है।
एक समै मात्र काल के प्रमान चेतन के,
पर्नति को भेद परजाय सो अवंक है।।२४।।

ऐसे द्रव्य गुन परजाय अरहंत जू को,
प्रथम अपाने मनमाहिं अवधारै है।
पीछे निज आतम को ताही भांति जानिकै,
अभेदरूप अनुभव दशा विसतारै है।।
त्रिकाल के जेते परजाय गुन आतमा के,
तेते एकै कालमाहिं ध्यावत उदारै है।
ऐसे जब ध्याता होय ध्यावै निज आतमा को,
वृन्दावन सोई मोह कर्म को विदारै है।।२५।।

जैसे कोऊ मोतिनि को हार उर धारै ताको,
भेद छांड़ि शोभा को अभेद सुख लेत है।

तैसे अरहन्त के समान जान आपरूप,
अभेद सरूप अनुभवत सचेत है।।
चेतना परजके प्रवाहतैं अभेद ध्यावै,
तथा चित्प्रकाशगुनहू को गोपि देत है।।
केवल अभेद आतमीक सुख वेदै तहाँ,
करता करम क्रिया भेद न धरेत है।।२६।।

जैसें चोखे रत्न को अकप निर्मल प्रकाश,
तैसैं चित्प्रकाश तहाँ निश्चल लहत है।
जब ऐसी होत है अवस्था तब भेद छेद,
चेतनता मात्र ही सुभाव को गहत है।।
मोह अन्धकार तहां रहै कौन के अधार,
भानु को उजास तथा तिमिर दहत है।
यही है उपाय मोह बाहिनी के जीतिबेको,
वृन्दावन ताको शरनागत चहत है।।२७।।

(१३) गाथा-८१ चिन्तामणि प्राप्त किया किन्तु प्रमेय-जो चोर है-इस प्रकार विचार कर विशेष जागृत रहता है।

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं।।८१।।

अर्थात् जिसने मोह को दूर किया है और आत्मा के सम्यक् तत्व को (सच्चे स्वरूप को) प्राप्त किया है, ऐसा जीव यदि राग-द्वेष को छोड़ता है, तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।

माधवी

जिस जीव के अन्तरतैं तिहुरन्तर, दूर भया यह मोह मलाना।
निज आतमतत्त्व जथारथ की, तिनके भई प्रापति वृन्द निधाना।।

जदि जो वह रागरु दोष प्रमाद, कुभावहु को तजि देत सयाना।
तदि सो वह शुद्ध निजातम को, निहचै करि पावत है परधाना।।

दोहा

यातैं मोह निवारि के, पायौ करि बहु जत्न।
आतमरूप अमोल निधि, जो चिन्तामणि रत्न।।२९।।

ताके अनुभवसिद्ध के, बाधक रागरु दोष।
इनहूँ को जब परिहरै, तब अनुभवसुख पोष।।३०।।

नाहीं तो ये चोर ठग, लटें अनुभव रत्न।
फिर पीछे पछिताय है, तातैं करु यह जत्न।।३१।।

सावधान वरतौ सदा, आतम अनुभवमाहिं।
राग-द्वेष को परिहरो, नहिं तो ठग ठगि जाहिं।।३२।।

(१४) गाथा-८२ यह एक उपाय है जो कि भगवन्तों ने स्वयं अनुभव करके दर्शाया वही मोक्ष का सत्यार्थ पंथ है।

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेर्सि ।।८२।।

अर्थात् सभी अरहन्त भगवान उसी विधि से कर्मांशों का क्षय करके तथा उसी प्रकार से उपदेश करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, उन्हें नमस्कार हो।

मनहरण

ताही सुविधान करि तीरथेश अरहन्त,
सर्व कर्म शत्रुनि को मूलतैं विदारी है।
तिसी भाँति देय उपदेश भव्य वृन्दनि को,
आप शुद्ध सिद्ध होय वरी शिवनारी है।।

सोई शिवमाला विराजतु है आज लगु,
अनादि सों सिद्ध पंथ यही सुखकारी है।
ऐसे उपकारी सुखकारी अरहन्तदेव,
मनवचकाय तिन्हैं वन्दना हमारी है।।३३।।

(१५) गाथा-८३ लूंटेरा मोह उसका स्वभाव और भेद

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा।।८३।।

अर्थात् जीव के द्रव्यादि सम्बन्धी मूढ़ भाव (-द्रव्यगुणपर्यायसम्बन्धी जो मूढ़तारूप परिणाम) वह मोह है उससे आच्छादित वर्तता हुआ जीव राग अथवा द्वेष को प्राप्त करके क्षुब्ध होता है।

मनहरण

जीव को जो दव्वगुनपर्जविषैं विपरीत,
अज्ञानता भाव सोई मोह नाम कहा है।
[१]कनक के खाये बउराये के समान होय,
जथारथ ज्ञान सरधान नाहिं लहा है।।
ताही [२]दृगमोहतैं अछादित हो चिदानन्द,
पर द्रव्य ही को निजरूप जानि गहा है।
तामें राग-द्वेषरूप भाव धरैं धाय धाय,
याही तैं जगत में अनादि ही सों रहा है।।३४।।

अनादि अविद्यातैं विसारि निजरूप मूढ़,
परदर्व देहादि को जानै रूप अपना।
इष्टानिष्ट भाव परवस्तु में सदैव करै,
वे तो ये स्वरूप याकी झूठी है कलपना।।

१- धतूरा। २- दर्शन मोहिनी से।

जथा नदीमाहिं पुल पानी की प्रबलतासों,
दोय खण्ड होत तथा भाव की जलपना।
एकै मोह त्रिविध त्रिकण्टक सुभाव धरैं,
झूठी वस्तु सांची दरसाव जथा सपना।।३५।।

(१६) गाथा-८४ तीनों प्रकार के मोह को अनिष्ट कार्य का कारण मानकर क्षय करने का कहा जाता है।

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ।।८४।।

अर्थात् मोहरूप रागरूप अथवा द्वेषरूप परिणमित जीव के विविध बंध होता है; इसलिये वे (मोह-राग-द्वेष) सम्पूर्णतया क्षय करनेयोग्य हैं।

षट्पद

मोह भावकरि तथा, राग अरु दोष भावकर।
जब प्रनवत है जीव, तबहि बन्धन लहन्त तर।।
विविध भांति के भेद, तासु बन्धन के भाखे।
जाके फल संसार, चतुर्गति में दुख चाखे।।
तातैं मोहादि त्रिभाव कों, सत्ता सों अब छय करौ।
है जोग यही उपदेश सुनि, भविकवृन्द निज उर धरौ।।३६।।

पुनः। दृष्टान्त

जथा मोहकरि अध, [१]वनज गज मत्त होत जब।
आलिंगन जुतप्रीति, [२]करिनि को धाय करत तब।।

१- जंगली हाथी। २- हस्तिनी।

तहां और गज देखि, द्वेष करि सनमुख धावत।
तृणछादित तब कूपमांहिं, परि संकट पावत।।
यह मोह राग अरु द्वेष पुनि, बंध दशा को प्रगट फल।
गज पर निहारि निज पर परखि, तजहु त्रिकंटक मोह मल।।३७।।

दोहा

तातैं इस उपदेश कौ, सुनो मूल सिद्धन्त।
मोह राग अरु द्वेष कौ, करौ भली विधि अन्त।।३८।।

(१७) गाथा-८५ उनके चिह्न यह हैं-पहिचानकर नष्ट करने योग्य।

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु।
विसएसु य प्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ।।८५।।

अर्थात् पदार्थ का अयथाग्रहण (अर्थात् पदार्थों को जैसे हैं, वैसे सत्यस्वरूप न मानकर उनके विषय में अन्यथा समझ) और तिर्यंच-मनुष्यों के प्रति करुणाभाव, तथा विषयों की संगति (इष्ट विषयों में प्रीति और अनिष्ट विषयों में अप्रीति) - यह सब मोह के चिह्न-लक्षण हैं।

द्रुमिला

अजथारथरूप पदारथ को, गहिकैं निहचै सरधा करिवो।
पशुमानुष में ममता करिकै, अपने मन में करुना धरिवौ।।
पुनि भोगविषैं मह इष्ट-अनिष्ट, विभावप्रसंगनि को भरिवो।
यह लच्छन मोह को जानि भले, मिल्यौ जोग है इन्हैं हरिवो।।३९।।

दोहा

तीन चिह्न यह मोह के, सुगुरु दई दरसाय।
'वृन्दावन' अब चूक मति, जड़तैं इन्हैं खपाय।।४०।।

(१८) गाथा-८६ मोहक्षय का अन्य उपाय

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ।।८६।।

अर्थात् जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जाननेवाले के नियम से मोहोपचय क्षय हो जाता है, इसलिए शास्त्र का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिए।

मनहरण

परतच्छ आदिक प्रमानरूप ज्ञानकरि,
सरवज्ञकथित जो आगमतैं जानै है।
सत्यारथरूप सर्व पदारथ 'वृन्दावन',
ताको सरधान ज्ञान हिरदै में आनै है।।
नेमकरि ताको मोह संचित खिपत जात,
जाको भेद विपरीत अज्ञान विधानै है।
तातैं मोह शुत्रु के विनासिवे को भलीभांति,
आगम अभ्यासिवो ही [१]जोगता बखानै है।।४१।।

(१९) गाथा-८७ जिनागम में पदार्थों की व्यवस्था

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो।।८७।।

अर्थात् द्रव्य, गुण और उनकी पर्यायें 'अर्थ' नाम से कही गई हैं। उनमें, गुण-पर्यायों का आत्मा द्रव्य है (गुण और पर्यायों का स्वरूप-सत्व द्रव्य ही है, वे भिन्न वस्तु नहीं हैं) इस प्रकार (जिनेन्द्र का) उपदेश है।

१- योग्यता।

मनहरण

सर्व दर्वमाहिं गुन परजाय राजत हैं,
तहां गुन सदा संग वसत अनन्त है।
क्रमकरि वर्तत कहावै परजाय सोई,
इन तिनहू को नाम अरथ अनन्त है।।
तामें गुन पर्ज को जो सरव अधारभूत,
ताही को दरव नाम भाषी भगवन्त है।।
ये ही तीनों भेदरूप आतमा विलोकौ वृन्द,
जैसे कुन्दकुन्दजी ने भाषी विरतन्त है।।४२।।

द्रव्य गुन पर्ज को कहावत अरथ नाम,
तहाँ गुन पर्ज करै द्रव्य में गमन है।।
तथा द्रव्य निज गुनपर्ज में गमन करै,
ऐसे 'अर्थ' नाम इन तीनों को अमन है।।
जैसे हेम निज गुन पर्ज में रमन करै,
गुन परजाय करें हेम में रमन है।
ऐसो भेदाभेद निजआतम में जानो वृन्द,
स्यादवाद सिद्धान्त में दोष को दमन है।।४३।।

दोहा

यातैं जिन सिद्धान्त को, करो भले अभ्यास।
मिटै मोहमल मूलतैं, होय शुद्ध परकास।।४४।।

(२०) गाथा-८८ मोहक्षय का उपदेश की प्राप्ति तो है किन्तु पुरुषार्थ अर्थ क्रियाकारी होने से पुरुषार्थ करते हैं।

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।।८८।।

अर्थात् जो जिनेन्द्र के उपदेश को प्राप्त करके मोह-राग-द्वेष को हनता है, वह अल्प काल में सर्व दु:खों से मुक्त हो जाता है।

षट्पद

जो जन श्रीजिनराज कथित, उपदेश पाय करि।
मोह राग अरु द्वेष, इन्हैं घातै उपाय धरि।।
सो जन उद्यमवान, बहुत थोरे दिनमाहीं।
सकल दु:ख सों मुक्त, होय भवि शिवपुर जाहीं।।
यातैं जिनशासन कथन का, सार सुधारस पीजिये।
वृन्दावन ज्ञानानन्द पद, ज्यों उतावली लीजिये।।४५।।

(२१) गाथा-८९ भेदज्ञान से ही मोह का क्षय है अत: स्व-पर विभाग की सिद्धि अर्थ प्रयत्न

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि।।८९।।

अर्थात् जो निश्चय से ज्ञानात्मक ऐसे अपने को और पर को निज निज द्रव्यत्व से संबद्ध (-संयुक्त) जानता है, वह मोह का क्षय करता है।

मनहरण

आतमा दरव ही है ज्ञानरूप सदाकाल,
ज्ञान आतमीक यह आतमा ही आप है।
ऐसी एकताई ज्ञान आतम की वृन्दावन,
ताको जो प्रतीति प्रीति करै जपै जाप है।।
तथा पुग्गलादि को सुभाव भलीभाँति जानै,
जान भेद जैसे जीव कर्म को मिलाप है।
सोई भेदज्ञानी निजरूप में सुथिर होय,
मोह को विनासै जातैं नसै तीनों ताप है।।४६।

(२२) गाथा-९० यह आगमानुसार करनेयोग्य है।

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा।।९०।।

अर्थात् इसलिए (स्व-पर के विवेक से मोह का क्षय किया जा सकता है इसलिए) यदि आत्मा अपनी निर्मोहता चाहता हो तो जिनमार्ग से गुणों के द्वारा द्रव्यों में स्व और पर को जानो (अर्थात् जिनागम के द्वारा विशेष गुणों से ऐसा विवेक करो कि - अनन्त द्रव्यों में से यह स्व है और यह पर है।)

तातैं जिन आगमतैं द्रव्य को विशेष गुन,
जथारथ जानो भले भेदज्ञान करिकै।
तामें निज आतम के गुन निजमाहिं जानो,
परगुन भिन्न जानो भर्मभाव हरिकै।।
नाना दीप जोत एक भौन में भरे हैं पै,
नियारे सर्व तैसे सर्व दर्व भिन्न भरिकै।
जो तू मोह नासिके अबाध सुख चाहै तौ तो,
आप ही में आप देख ऐसे ध्यान धरिकै।।४७।।

दोहा

दरवनि में को भांति के, गुन वरतंत सदीव।
है सामान्य स्वरूप इक, एक विशेष अतीव।।४८।।

तामें आतमरसिक जन, गुन विशेष उरधार।
द्रव्यनि को निरधार करि, सरधा धरैं उदार।।४९।।

एक क्षेत्र अवगाह में, हैं षड्द्रव्य अनाद।
निज निज सत्त को धरैं, जुदे जुदे मरजाद।।५०।।

ज्यों का त्यों जानों तिन्हैं, तामें सों निजरूप।
भिन्न लखौ सब दर्बतैं, चिदानंद चिद्रूप।।५१।।

ताके अनुभवरंग में, पगो वृन्द सरवंग।
मोह महारिपु तुरत तब, होय मूलतैं भंग।।५२।।

(२३) गाथा-९१ जिन कथित अर्थों की श्रद्धा बिना धर्मलाभ नहीं होता।

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।
सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो ण संभवदि।।९१।।

अर्थात् जो (जीव) श्रमणावस्था में इन सत्तासंयुक्त सविशेष पदार्थों की श्रद्धा नहीं करता, वह श्रमण नहीं है; उससे धर्म का उद्भव नहीं होता (अर्थात् उस श्रमणाभास के धर्म नहीं होता।)

मनहरण

सत्ता सनबंध दोय भांति है दरवमाहिं,
सामान्य विशेष जो कुतर्क सों अबाध है।
जैसे वृच्छजातितैं समान सर्व वृच्छ और,
आमनिंब आदितैं विशेषता अगाध है।।
तैसें सत्ता भावकरि सव्व दव्व अस्ति औ,
विशेष सत्ता लियैं सब जुदे निरुपाध है।
साधु होय याको जो न निहचै प्रतीत करे,
ताकों शुद्ध धर्म को न लाभ सो न साध है।।५३।।

नरेन्द्र

यों सामान्य-विशेष-भावजुत, दरवनि को नहिं जानै।
स्व-परभेदविज्ञान बिना तब, निज निधि क्यों पहिचानै।।
तो सम्यक्त भाव बिनु केवल, दरवलिंग को धारी।
तप संजमकरि खेदित हो है, बरै नाहिं शिवनारी।।५४।।

मनहरण

जैसें रजसोधा रज सोधत सुवर्न हेत,
जो न ताहि सोना को पिछान उरमाहीं है।
तौ तो खेद वृथा तैसें यहाँ भेदज्ञान विनु,
सुपर पिछानैं मुनिमुद्रा जे धराहीं है।।
तप संजमादिक कलेश करै कायकरि,
सो तो शुद्ध आतमीक धर्म न लहाही है।
ताके भावरूप मुनिमुद्रा नाहिं वृन्दावन,
ऐसे कुन्दकुन्द स्वामी विदित कहा ही है।।५५।।

चौपाई

प्रथमाह श्रीगुरुदेव कहा था। [१]'उवसंपयामी सम्मं' गाथा।
ताकरि साम्यभाव शिव कारन। यह निहचै कीन्हों उर धारन।।५६।।

फिर कहि सुगुरु सुहित अभिलाषा। [२]'चारित्तं खलुधम्मो' भाषा।
जोई सामभाव थिर पर्म। शुद्धपयोगरूप सो धर्म।।५७।।

पुनि गुरुदेव कही करि करुना। [३]'परिणमदि जेण दव्व' विवरुना।
ताकरि सामभाव सोई आतम। अति एकतामई परमातम।।५८।।

फिर गुरु दीनदयाल उदारा। [४]'धम्मेण परिणदप्पा' उचारा।
ताकरि सिद्ध कियो पद पर्म। साम्य शुद्ध उपयोग सुधर्म।।५९।।

इहि विधि शुद्ध धरम परशंसा। शुभ औ अशुभपयोग विध्वंसा।
परम अतिन्द्री ज्ञानानन्दा। निज स्वरूप पायो निर्द्वंदा।।६०।।

१–पाँचवीं गाथा। २– सातवीं गाथा।
३– आठवीं गाथा। ४– ग्यारहवीं गाथा।

अति हि अनाकुल अचल महा है। शुद्धधर्म निजरूप गहा है।
तहाँ अकंप जोति निज जागै। वृन्दावन तासों अनुरागै।।६१।।

(२४) गाथा-९२ आगमकुशल, निहतमोहदृष्टि, वीतराग चारित्रवन्त को धर्म कहा है।

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ।।९२।।

अर्थात् जो आगम में कुशल हैं, जिसकी मोहदृष्टि हत हो गई है और जो वीतरागचारित्र में आरूढ़ है, उस महात्मा श्रमण को (शास्त्र में) 'धर्म' कहा है।

मनहरण

जाने मोहदृष्टि को विशिष्टपने घातकरि,
पायो निजरूप भयो सांचो समिकती है।
सरवज्ञ भाषित सिद्धांत में प्रवीन अति,
जथारथ ज्ञान जाके हिये में जगती है।।
वीतराग चारित में सदा सावधान रहै,
सोई महामुनि शिवसाधक सुमती है।
ताही भावलिंगी मुनिराज को धरम नाम,
विशेषपनें तैं कह्यो सोई शुद्ध जती है।।६२।।

अनेकान्तरूप जिनराज को शबद ब्रह्म,
होउ जयवन्त जामें सांचो शिवपंथ है।
अनादि की मोह-गांठि भेद के किनोर करै,
आतमस्वरूप जहाँ पावै भ्रम मंथ है।।

शुद्ध उपयोग पर्म धर्म जामें लाभ होत,
छूटै जातैं सर्व कर्म बंधन को कंथ है।
वृन्दावन वंदत मुनिन्द कुन्दकुन्द जू को,
सेवैं शिव होत प्रवचनसार ग्रन्थ है।।६३।।

दोहा

वंदों श्री जिनराजपद, शुद्ध चिदानन्दकन्द।
ज्ञानतत्त्व अधिकार यह, पूरन भयो अमंद।।६४।।

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत परमागम श्री प्रवचनसारजी की वृन्दावनअग्रवाल गोइलगोत्री काशीवासिकृत भाषा में तीसरा ज्ञानतत्त्व अधिकार सम्पूर्ण भया।

[१]संवत् १९०५ कार्तिक शुक्ला द्वादशी बुधवासरे वृन्दावन ने लिखी, प्रथम प्रति है, सो जयवंती वरतौ।श्रीरस्तु।

❀ ❀ ❀

१– दूसरी प्रति में भी इस प्रकार लिखा है।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

अथ चतुर्थ-ज्ञेयतत्त्वाधिकारः

तत्र इष्टदेव वन्दना।

दोहा

वन्दों श्रीसर्वज्ञ जो, वर्जित सकलविकार।
विघनहरन मंगलकरन, मनवांछित-दातार।।१।।

ज्ञेयतत्त्व के कथन का, अब अधिकार अरम्भ।
श्रीगुरु करत दयालचित, त्यागि मोह मद दम्भ।।२।।

कुन्दकुन्द गुरुदेव के, चरनकमल सिर नाय।
वृन्दावन भाषा लिखत, निज पर को सुखदाय।।३।।

(१) गाथा-९३ ज्ञेयतत्त्व पदार्थ का द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप वर्णन

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया।।९३।।

अर्थात् पदार्थ द्रव्यस्वरूप है; द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं; और द्रव्य तथा गुणों से पर्यायें होती हैं। पर्यायमूढ़ जीव परसमय (अर्थात् मिथ्यादृष्टि) हैं।

मनहरण

जेते ज्ञानगोचर पदारथ हैं ते ते सर्व,
दर्व नाम निहचैसों पावैं सरवंग हैं।
फेरि तिन द्रव्यनि में अनन्त अनन्त गुण,
भाषे जिनदेव जाके वचन अभंग हैं।।

पुनि सो दरव और गुननि में वृन्दावन,
परजाय जुदी-जुदी वसैं सदा संग हैं।
ऐसी दोई भाँति परजाय को न जानै जोई,
सोई मिथ्यामती परसमयी कुढंग हैं।।४।।

विशेष वर्णन-दोहा

ज्ञेय पदारथ है सकल, गुन-परजै संजुक्त।
तातैं दरव कहावहीं, यह जिनवक्ती उक्त।।५।।

गुन कहिये विस्तारकों, जो चौड़ाईरूप।
संग वसत नित दरव के, अविनाभावसरूप।।६।।

परजकों आयत कहैं, ज्यों लम्बाई होय।
घटै बढ़ै क्रम सों रहै, भेद तासु के दोय।।७।।

एक दरव परजाय है, गुन की परज दुतीय।
दो दो भेद दुहून में, सुनो समरसी जीय!।।८।।

अथ पर्यायभेद कथन-मनहरण

दर्व की परज दोय भांति यों कथन करी,
एक है समान जाति दूजी असमान है।
पुग्गलानु अनेक को खंध सो समान जाति,
जीव पुदगल मिलें असमानवान है।।
गुनहू की दोय परजाय एक सुभाविक,
षटगुनी हानि-वृद्धि जथा जोग ठान है।
दूसरो विभाव वरनादि गुन खंधविषैं,
ज्ञानादिक पुग्गल के जोग ज्यों मलान है।।९।।

वस्त्र ही को पाट जोड़ें होतु है समान जाति,
तथा पुग्गलानु मिलें खंघ परजाय है।
रेशमी कपासी मिलें होत असमान चीर,
तथा देह जीव पुदगल मिले पाय है।।
जथा वस्त्र सेत है सुभाव गुन परजाय,
तथा षटगुनी हानि-वृद्धि भेद गाय है।
पर के प्रसंग से तरंग ज्यों विमान त्यों ही,
ज्ञानादि पर के संग विभाव कहाय है।।१०।।

कवित्त (३० मात्रा)

इहि विधि दरवनि के गुन परजै, भनी जिनागम में तहकीक।
भेदज्ञानकरि भविक वृन्द दिढ़, सरधा रुचि सों धैर अधीक।।
मिथ्यामती न जानै याकों, एक एक नय गहै अठीक।
शिवहित हेतु अफल करनी तसु, 'पीटै मूढ़ सांप की लीक'।।११।।

(२) गाथा-९४ अब आनुपंगिक ऐसी यह ही स्वसमय-परसमय की व्यवस्था (भेद) उपसंहार।

जे पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्हि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा।।९४।।

अर्थात् जो जीव पर्यायों में लीन हैं उन्हें परसमय कहा गया है जो जीव आत्मस्वभाव में स्थित हैं, वे स्वसमय जानने।

षट्पद

जो अज्ञानी जीव, देह ही में रति राचे।
अहंकार ममकार धरे, मिथ्यामद माचे।।
तिनही को परसमय नाम, भगवन्त कहा है।
अरु जो आतमभाव विषैं, लवलीन रहा है।।

नित आतमज्ञानी जीव को, स्वसमयरत जानो सही।
वह चिद्विलास निजरूप में, रमत वृन्द निज निधि लही।।१२।।

मनहरण

अनादि अविद्यातैं आच्छादित है सांचो ज्ञान,
असमान देह ही को जानै रूप अपना।
नाना निंद्यक्रियामाहिं अहंममकार करै,
सोई परसमै ताकी झूठी है जलपना।।
जिनके स्वरूपज्ञान भयो है जथारथ औ,
मिटी मोह राग दोष भाव की कलपना।
एकरूप ज्ञानजोति जगी है अकंप जाके,
सोई स्वसमय को न भवाताप तपना।।१३।।

(३) गाथा-९५ द्रव्य का लक्षण

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति।।९५।।

अर्थात् स्वभाव को छोड़े बिना जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसंयुक्त है तथा गुणयुक्त और पर्यायसहित है, उसे 'द्रव्य' कहते हैं।

काव्य

जो स्वभाव नहिं तजै, सदा अस्तित्व गहै है।
औ उतपत व्यय ध्रौव्य,-सहित सब काल रहै है।।
पुनि अनन्त गुणरूप, तथा जो परज नई है।
ताही को गुरुदेव, दरव यह नाम दई है।।१४।।

सोरठा

गुन है दोय प्रकार, इक सामान्य विशेष इक।
सुनि समुझो निरधार, सरधा धरि भवदधि तरो।।१५।।

मनहरण

अस्ति नास्ति एकानेक दव्वत्त परजवत्त,
सर्वासर्वगत सप्रदेशी अप्रदेशी है।
मूरत-अमूरत सक्रिया और अक्रियावान,
चेतन-अचेतन सकर्त्ता-कर्त्ता तेसी है।।
भोगता-अभोगता अगुरुलघु ए समान,
दर्वनि के गुन वृन्द गुरु उपदेशी है।
अवगाह गति थिति वर्तना मूरतवन्त,
चेतनता गुन कहे लच्छन विशेषी है।।१६।।

दोहा

दरवनि के अरु गुननि के, परनति के जे भेद।
सो परजाय कहावई, समुझो भवि भ्रमछेद।।१७।।

मनहरण

उत्पाद-व्यय ध्रुव गुन परजाय यही,
लच्छन को धरै द्रव्य लच्छ नाम पावै है।
ताहि उतपादादि और गुन परजाय ही तैं,
लखिये है यातैं यह लच्छन कहावै है।।
[१]करतार [२]साधन [३]अधार दर्व इनको है,
इन बिना द्रव्यहू न सिद्धिता लहावै है।
[४]लच्छ और लच्छन में जद्यपि विविच्छाभेद,
तथापि स्वरूपतैं अभेद ठहरावै है।।१८।।

१- कर्त्ता। २- करण। ३- अधिकरण।
४- जिसका लक्षण किया जावे।

(४) गाथा-९६ दो प्रकार अस्तित्व-स्वरूपास्तित्व, सादृश्यास्तित्व, स्वरूपास्तित्व का कथन

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं।।९६।।

अर्थात् गुण तथा अनेक प्रकार की अपनी पर्यायों से और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से द्रव्य का जो अस्तित्व है, वह वास्तव में स्वभाव है।

दर्व का सरवकालमाहिं असतित्व सोई,
निहचैसों मूलभूत सहज सुभाव है।
सोई निज गुण औ स्वकीय नाना पर्जकरि,
और उतपाद-व्यय-ध्रौवता लहाव है।।
करतार साधन अधार दर्व इनको है,
इन बिना द्रव्यहू न सिद्धिता कों पाव है।
द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकरि सदा एक ही है,
साधिवे के हेत लच्छ-लच्छन जनाव है।।१९।।

जैसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकरि कंचन तैं,
पीततादि गुन [१]पर्ज कुण्डल न जुदै हैं।
करतार साधन अधार याको [२]हेम ही है,
जातैं हेमसत्ता बिना इनको न उदै है।।
कुण्डल को नाश उतपाद होत कंकन को,
हेमद्रव्य ध्रौव्य गुन पीतादि समुदै है।
तैसे सर्व दर्व निज गुन परजाय तथा,
उतपाद व्यय ध्रुव सहित प्रमुदै है।।२०।।

१- पर्याय। २- सुवर्ण-सोना।

दोहा

दरव स्वगुनपरजायकरि, उतपत-वय, ध्रुव-जुत।
रहत अनाहतरूप नित, यही [१]स्वरूपास्तित्त।।२१।।

पर दरवनि के गुन [२]परज, तिनसों मिलतौ नाहिं।
निज स्वभावसत्ताविषैं, प्रनमन सदा कराहिं।।२२।।

(५) गाथा-९७ सादृश्य-अस्तित्व का कथन

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं।।९७।।

अर्थात् धर्म का वास्तव में उपदेश करते हुए जिनवरवृषभ ने इस विश्व में विविध लक्षणवाले (भिन्न-भिन्न स्वरूपास्तित्ववाले सर्व) द्रव्यों का 'सत्' ऐसा सर्वगत लक्षण (सादृश्यास्तित्व) एक कहा है।

मनहरण

नाना परकार यहाँ लच्छन के भेद राजैं,
तामें एक सत सर्व दर्वमाहिं व्याप है।
ऐसे सरवज्ञ वस्तु को स्वभाव धर्म कह्यो,
जो सरव दर्व को सदृशकरि थापै है।।
जैसे वृच्छ जाति की सदृश और सत्ता और,
लच्छन विशेषकरि जुदी-जुदी तापै है।
मुख्य मौन द्वारतैं अदोष वृन्द सर्व सधै,
सामान्य विशेष धर्मधारी दर्व आपै है।।२३।।

दोहा

सहजस्वरूपास्तित्वकरि, जुदे-जुदे सब दर्व।
निज-निज गुन लच्छन धरैं, है विचित्र गति पर्व।।२४।।

१- स्वरूपास्तित्व। २- पर्याय।

अरु सादृश्यास्तित्वकरि, सब थिर थपन अबाध।
सत लच्छन के गहनतैं, यही एक निरुपाध।।२५।।

तिहूँ काल में जा सको, बाधा लगै न कोय।
सोई सतलच्छन प्रबल, सब दरवनि में होय।।२६।।

(६) गाथा-९८ किसी द्रव्य से अन्य द्रव्य की उत्पत्ति नहीं और द्रव्य से अस्तित्व कोई पृथक् नहीं है।

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ।।९८।।

अर्थात् द्रव्य स्वभाव से सिद्ध और (स्वभाव से ही) 'सत्' है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने यथार्थत: कहा है; इस प्रकार आगम से सिद्ध है; जो इसे नहीं मानता वह वास्तव में परसमय है।

मनहरण

अपने सुभाव ही सों स्वयंसिद्ध द्रव्य नित,
निजाधार निजगुणपरज को मूल है।
सोई है सत्तास्वरूप ऐसे जिनभूप कह्यौ,
तत्त्वभूत वस्तु को स्वभाव अनुकूल है।।
द्रव्य को स्वभावरूप सत्ता गुन 'वृन्दावन',
प्रदेशतैं भेद नाहिं दोऊ समतुल है।
आगम प्रमान जो न करै सरधान याको,
सोई परसमयी मिथ्याती ताकी भूल है।।२७।।

दोहा

जदपि जीव पुदगल मिले, उपजहिं बहु परजाय।
तदपि न नूतन दरव की, उतपति वरनी जाय।।२८।।

मनहरण

द्रव्य गुनखान तामें सत्ता गुन है प्रधान,
गुनी-गुन को यहाँ प्रदेशभेद नाहीं है।
संज्ञा संख्या लच्छन प्रयोजनतैं द्रव्यमाहिं,
कथंचित भेद पै न सर्वथा कहाहीं है।।
दण्ड के धरेतैं जैसे दण्डी तैसे यहाँ नाहिं,
यहाँ तो स्वरूपतैं अभेद ठहराहीं है।
दरव को सुभाव है अनंत गुनपर्जवन्त,
ताको सांचो ज्ञान भेदज्ञानी वृन्दपाहीं है।।२९।।

जब परजाय द्वार दरव विलोकिये तौ,
गुनी गुन भेदनि की उठत तरंग है।।
और जब दर्वदृष्टि देखिये तौ गुनीगुन,
भेदभाव डूबै रहै एक रस रंग है।।
जैसे सिन्धुमाहिं भेद जद्दपि कलोलिनितैं,
निहचै निहारैं वारि सिन्धु ही को अंग है।
तैसे दोनों नैन के समान दोनों नयननितैं,
वस्तु को न देखै सोई मिथ्याती कुढ़ंग है।।३०।।

(७) गाथा-९९ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने पर भी द्रव्य 'सत्' है।

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो।।९९।।

अर्थात् स्वभाव में अवस्थित (होने से) द्रव्य 'सत्' है; द्रव्य का जो उत्पादव्ययध्रौव्य सहित परिणाम है, वह पदार्थों का स्वभाव है।

अपने सुभावपरनतिविषैं सदाकाल,
तिष्ठतु है सत्तारूप वस्तु सोई दर्व है।
द्रव्य को जो गुनपरजायविषैं परिनाम,
निश्चैकरि ताही को स्वभाव नाम सर्व है।।
सोई ध्रुव-उतपाद-वय इन भावनितैं,
सदा सनबंधजुत राजत सुपर्व है।
ऐसी एकताई कुन्दकुन्दजी बताई वृन्द,
बन्दतु है तिन्हैं सदा त्यागि उर गर्व है।।३१।।

विशेष वर्णन। चौपाई

दरवनि को गुनपरजयरूप। जो परिनाम होत तद्रूप।
ताको नाम सुभाव भनन्त। सो ध्रुव-उतपत-वयजुत तन्त।।३२।।

एक दरव के जथा कहेस। चौड़े सूक्ष्म अनेक प्रदेश।
त्यों प्रनवनरूपी परबाह। लम्बाई क्रमसहित अथाह।।३३।।

मनहरण

दर्वनि के परदेश चौड़ाई समान कहे,
जातैं ये प्रदेश सदाकाल स्थायीरूप हैं।
पर्नत प्रवाह ताकी क्रम ही तैं होत तातैं,
लम्बाई समान याको सुगुरु प्ररूप हैं।।
जेते हैं प्रदेश ते ते निज-निज थान ही में,
पुव्व की अपेच्छा उतपन्नमान भूप हैं।
आगे की अपेच्छा व्ययरूप औ दरव एक,
सर्वमाहि यातैं ध्रुव अचल अनूप है।।३४।।

दोहा

या प्रकार परदेश को, उतपत-वय-ध्रुव जान।
जथाजोग सरधा धरो, अब सुन और बखान।।३५।।

मनहरण

जैसे परदेशनि को त्रिधारूप सिद्ध करी,
तैसे परिनामहू को ऐसे भेद कहा है।
पहिले समै के परिनाम उतपादरूप,
पीछे की अपेच्छा सोई वयभाव गहा है।।
सदा एक दर्व के अधार परवाह बहै,
तातैं द्रव्य द्वारतैं सो ध्रौव्य सरदहा है।
ऐसे उतपाद-वय-ध्रुवरूप परिनाम,
दर्व को सुभाव निरुपाध सिद्ध लहा है।।३६।।

जैसे मुकताफल की माला सूतमाँहि पोयें,
तेजपुंज मंजु नाना मोतिनि की दाना है।
पुव्व-पुव्व दाने की अपेच्छा आगे आगे वाले,
उतपाद पाछेवाले वयकरि माना है।।
एकै सूत सर्वमाहिं तासकी अपेच्छा धुव,
तैसे दर्वमाहिं तीनों साधत सयाना है।
ऐसे नित्यानित्य लच्छ लच्छन अबाध सधैं,
धन्य जैन वैन स्यादवाद जाको बाना है।।३७।।

(८) गाथा-१०० उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का परस्पर अविनाभाव दृढ़ करते हैं।

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण।।१००।।

अर्थात् उत्पाद भंग रहित नहीं होता, और भंग बिना उत्पाद के नहीं होता; उत्पाद तथा भंग ध्रौव्य पदार्थ के बिना नहीं होते।

मत्तगयन्द

[१]भंग बिना न वनै कहुं [२]संभव, संभव हू विन भंग न हो है।
औ निहचै बिनु ध्रौव पदारथ, व्यै उतपाद कहूँ नहिं सोहै।।
ज्यों मृतपिण्डतैं कुम्भ बनै, धुव दर्व दोऊमहँ एकहि हो है।
त्यों सब दर्व त्रिधातम लच्छन, जानत वृन्द विच्छन जो है।।३८।।

चौपाई

वय बिनु नाहिं होत उतपादं। उतपत विना न व्यय मरजादं।
उतपत वय बिनु ध्रौव्य न होई। ध्रुव बिन उतपत वय हु न जोई।।३९।।

जातैं जो उतपत सोई [३]वै। जोई नाश सोई उतपत है।
जो उतपत वय है ध्रुव सोई। जो ध्रुव सो उतपत व्यय होई।।४०।।

मनहरण

जैसे [४]मृतपिण्ड को विनाश [५]कुम्भ उतपात,
दोनों परजाय धरे दर्व धुव देखिये।
बिना परजाय कहूँ दर्व नाहिं सरवथा,
द्रव्य बिना परजाय हू न कहूँ पेखिये।।
तातैं उतपादादि स्वरूप दर्व आप ही है,
स्वयंसिद्ध भलीभाँति सिद्ध होत लेखिये।
यामें एक पच्छ गहैं लच्छ लच्छ दोष लगैं,
वृन्दावन तातैं त्रिधा लच्छन परेखिये।।४१।।

षट्पद

केवल ही उतपाद कहैं, दो दूषन गाजै।
उपादान कारन-विहीन, घट कर्म न छाजै।।

१- व्यय (नाश)। २- उत्पाद। ३- व्यय=नाश।
४- मिट्टी का पिण्ड। ५- घड़ा।

ध्रौव्य वस्तु बिनु जो मूरख, उतपाद बतावै।
सो अकाश के फूल, बांझसुत मौर बनावै।।
जो केवल ही वय मानिये, तौ उतपति बिनु नास किमि।
पुनि ध्रौव्य वस्तु के नासनैं, ज्ञानादिक गुन नास तिमि।।४२।।

जो केवल धुव ही प्रमान, इक पच्छ मानियै।
तो दो दूषन तासमाहिं, परतच्छ जानियै।।
प्रथम तास परजाय,-धरम को नाश होत है।
बिनु परजाय न दरब, कहूं निहच उदोत है।।
जो है अनित्त कहँ नित्त पद, तौ मन की गति नित्त गन।
यातैं निरविधन त्रिधातमक, लच्छन द्रव्य प्रतच्छ भन।।४३।।

(९) गाथा-१०१ उत्पादादि द्रव्य के पृथक् पदार्थ नहीं।

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वम्हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं।।१०१।।

अर्थात् उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय पर्यायों में वर्तते हैं; पर्यायें नियम से द्रव्य में होती हैं, इसलिए वह सब द्रव्य है।

द्रुमिला

परजायविषैं उतपादरु व्यै धुव,
वर्ततु हैं क्रम ही करिके।
निहचैं करि सो परजाय सदा,
नित दर्वहि माहिं रहै भरिके।।
तिहितैं सब में वह द्रव्य हि है,
सरवंग दशा अपनी धरि के।

जिमि वृच्छतैं मूल न शाखा जुदे,
तिमि द्रव्य लखो भ्रम को हरि के।।४४।।

मनहरण

जसे वृच्छ अंशी ताके अंश बीज, अंकुरादि
तामें तीनों भेद भाव ऐसे लखि लीजिये।
बीज को विनाश उतपाद होत अंकुर को,
वृच्छ धुवताई ऐसी सरधा धरीजिये।।
नूतन दरव को न होत उतपाद कहूँ,
यह तौ असंभौ कभी चित में न दीजिये।
दर्व की स्वभावरूप परजाय पर्नति में,
तीनों दशा होत वृन्द याही कौ पतीजिये।।४५।।

(१०) गाथा-१०२ अब उत्पादादि का क्षण भेद खण्डित करके यह समझाते हैं कि वह द्रव्य है।

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एक्कम्हि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं।।१०२।।

अर्थात् द्रव्य एक ही समय में उत्पाद, स्थिति और नाश नामक अर्थों के साथ वास्तव में समवेत (एकमेक) है; इसलिए यह त्रितय वास्तव में द्रव्य है।

काव्य

उतपत-वय-धुव नाम सहित, जो भाव कहा है।
दरव तासुतैं एकमेक ही, होय रहा है।।
पुनि सो एकहि समय, त्रिविध परनवति अभेदं।
तातैं त्रिविधसरूप, दरव निहचै निरवेदं।।४६।।

दोहा

यहाँ प्रश्न कोई करत, उतपादादिक तीन।
जुदे-जुदे समयनिविषैं, क्यों नहिं कहत प्रवीन।।४७।।

तीन काल एकै संमै, कैसे हो है सिद्ध।
समाधान याको करौ, हे आचारज वृद्ध।।४८।।

उतपादिक के पृथक, पृथक दरव जो होय।
तब तो तीनों समय में, तीन संभवै सोय।।४९।।

जहां एक ही दरव है, तहँ एक समयमँझार।
तीनों होते संभवत, दरवदिष्टि के द्वार।।५०।।

मनहरण

दर्वही की निज परजाय औ सु पर्नति तैं,
उतपाद-धुव-वय दशा होत वरनी।
दर्व दोनों रूप परिनवै आप आप ही में,
ताही की अपेक्षा एकै समै तीनों करनी।।
मृत्तिका तैं कुम्भ जथा माटी धुव दोनों माहिं,
द्रव्य द्वार एकै संमै ऐसे उर धरनी।
स्यादवादवानी की अपेच्छासेती एकै समै,
ऐसे तीनों साधी हैं मिथ्यात की कतरनी।।५१।।

(११) गाथा-१०३ अब द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का अनेक द्रव्य-पर्याय के द्वारा विचार करते हैं।

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं।।१०३।।

अर्थात् द्रव्य की अन्य पर्याय उत्पन्न होती है और कोई अन्य पर्याय नष्ट होती है; फिर भी द्रव्य न तो नष्ट है, न उत्पन्न है (-वह ध्रुव है।)

काव्य

दरवनिका परजाय, एक प्रगटत उदोत है।
बहुरि अन्य परजाय, दशा जहँ नाश होत है।।
तदपि दरव नहिं नसै, नहीं उपजै तहँ जानो।
सदा ध्रौव्य ही आपु रहै, निहचै परमानो।।५२।।

छप्पय

संजोगि के परजाय, दोय परकार कहा है।
इक समान जातीय, दुतिय असमान गहा है।।
पुग्गलानु मिलि खंध, होत सोई समान है।
जिय पुदगल मिलि देह, सु तौ असमान मान है।।
इन परजै के उपजत नसत, दरव न उपजत नहिं नसत।
नित ध्रौव दशा निज धारि के, सदा एक रस ही लसत।।५३।।

(१२) गाथा-१०४ उनका एक द्रव्य-पर्याय के द्वारा विचार

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति।।१०४।।

अर्थात् सत्तापेक्षा से अविशिष्टरूप से, द्रव्य स्वयं ही गुण से गुणान्तररूप परिणमित होता है, (अर्थात् द्रव्य स्वयं ही एक गुणपर्याय में से अन्य गुणपर्यायरूप परिणमित होता है, और उसकी सत्ता गुणपर्यायों की सत्ता के साथ अविशिष्ट-अभिन्न-एक ही रहती है), और उससे गुणपर्यायें द्रव्य ही कही गई हैं।

मनहरण

दरव स्वयमेव ही सरब काल आप ही सों,
गुन सों गुनंतर प्रनवत रहत है।

सत्तातैं अभिन्न तात गुननि की परजाय,
दर्व ही है निश्चै एसे सुगुरु कहत है।।
जैसे आम हरित वरन गुण त्याग सोई,
पीत गुण आप ही सुभाव सों लहत है।
ध्रौवरूप आम दोउ दशामाहिं वृन्दावन,
तैसे दर्व सदा त्रिध लच्छन लहत है।।५४।।

(१३) गाथा–१०५ सत्ता और द्रव्य में पृथक्त्व नहीं

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुव्वं हवदि तं कधं दव्वं।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता।।१०५।।

अर्थात् यदि द्रव्य (स्वरूप से ही) सत् न हो तो – (१) निश्चय से वह असत् होगा; (जो असत् होगा) वह द्रव्य कैसे हो सकता है? अथवा (यदि असत् न हो) तो (२) वह सत्ता से अन्य (पृथक्) हो! (सो भी कैसे हो सकता है?) इसलिए द्रव्य स्वयं ही है।

छप्पय

जो यह दरव न होय, आपु सत्ता को धारक।
तौ तामें धुवभाव, कहा आवै थितिकारक।।
जो धुवता नहिं धरै, कहो तब दरव होय किमि।
तातैं सत्तारूप दरव, स्वयमेव आयु इमि।।
है दरव गुनी सत्ता सुगुन, सदा एकता भाव धरि।
परदेश भेद इनमें नहीं, यों भवि वृन्द प्रतीत करि।।५५।।

(१४) गाथा–१०६ पृथक्त्व और अन्यत्व का लक्षण

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं।।१०६।।

अर्थात् विभक्तप्रदेशत्व वह पृथक्त्व है, ऐसा वीर का उपदेश है। अतद्भाव (उसरूप न होना) वह अन्यत्व है। जो उसरूप न हो वह एक कैसे हो सकता है? (कथंचित् सत्ता द्रव्यरूप नहीं है और द्रव्य सत्तारूप नहीं है, इसलिए वे एक नहीं हैं।)

मनहरण

जहाँ परदेश की जुदागीरूप भेद सो तौ,
प्रविभक्त जानों जथा दण्डी दण्डवान है।
संज्ञा लच्छनादितैं दरव सत्तामाहिं भेद,
वीरस्वामी ताको नाम अन्यत्व बखान है।।
द्रव्य के अधार तो अनंत गुन तामें एक,
सत्ताहू बसत सु विशेषन प्रमान है।
सत्तामाहिं नाहिं और गुन को निवास वृन्द,
ऐसे द्रव्य सत्ता में विभेद ठहरान है।।५६।।

जैसे वस्त्र द्रव्य सेत गुन को धरै है आपु,
जदपि प्रदेश एक तदपि विभेद है।
वस्त्र को तो बोध फरसादि इन्द्रीहूतैं होत,
पै सुपेद गुन नैन द्वान्ही तैं वेद है।।
जातैं सुपेद गुन जुदो जो न मानै तौ,
फरस आदि इन्द्री क्यों न जानत सुपेद है।
जो दर्व गुन में हैं भेद संज्ञालच्छनतैं,
नाना भाँति साधै स्यादवादी ही अखेद है।।५७।।

दोहा

सत्ता दरवविषैं सुगुरु, ज्यों प्रदेश नहिं भेद।
ज्यों स्वरूपहू के विषैं, कीजे भेद निखेद।।५८।।

छप्पय

सत्ता दरवविषैं विभेद, कहु क्यों न मानियै।
दरवविषैं गुनगन अनंत, थिति पृथक जानियै।।
निजाधार है दरव, विविध परजायवन्त है।
गुनपरजैं सब जुदे-जुदे, जामें वसंत है।।
औ सत्ता दरवाधीन है, तासु माहिं नहिं अपर गुन।
है एक विशेषन दरव को, तातैं भेद अवश्य सुन।।५६।।

(१५) गाथा-१०७ अतद्भाव को उदाहरण द्वारा समझाते हैं

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो।।१०७।।

अर्थात् 'सत् द्रव्य' 'सत् गुण' और 'सत् पर्याय' - इस प्रकार (सत्तागुण का) विस्तार है। (उनमें परस्पर) जो 'उसका अभाव' अर्थात् 'उसरूप होने का अभाव' है वह 'तद्-अभाव' अर्थात् अतद्भाव है।

सत्ता तीन प्रकार सहित, विस्तार कहा है।
दरवसत्त गुनसत्त, सत्त परजाय गहा है।।
जो तीनों के माहिं, परस्पर भेद विराजै।
सोई है अन्यत्व भेद, इमि जिन धुनि गाजै।।
है दरवसत्त गुन-परज-गत, गुनसत एक सुधरम-रत।
परजायसत्त क्रम को धरै, यातैं भेद प्रमानियत।।६०।।

मनहरण

जैसे एक मोतीमाल तामें तीन भांत सेत,
[१]सेत हार सेत सूत सेतरूप [२]मनिया।

१- श्वेत-सफेद। २- गुरिया।

तैसे एक दर्वमाहिं सत्ता तीन भांत सोहै,
दर्वसत्ता गुनसत्ता पर्जसत्ता भनिया।।
दरव की सत्ता है अनन्त धर्म सर्वगत,
गुन की है एक ही धरमरूप गनिया।
परज की सत्ता क्रमधारी ऐसी भेदाभेद,
सधी मुनि वृन्द श्रुतसिन्धु के [१]मथनिया।।६१।।

(१६) गाथा-१०८ सर्वथा अभाव अतद्भाव का लक्षण नहीं है।

जं दव्वं तं ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो।।१०८।।

अर्थात् स्वरूप अपेक्षा से जो द्रव्य है वह गुण नहीं है, और जो गुण है, यह द्रव्य नहीं है। यह अतद्भाव है; सर्वथा अभाव वह अतद्भाव नहीं है; ऐसा (जिनेन्द्रदेव द्वारा) दर्शाया गया है।

मनहरण

दर्व जो है अनन्त धरम को आधारभूत,
सो न गुन होत यों विचार उर रखिये।
तथा जो है गुन एक धर्म निजरूप करि,
सोऊ दर्व नाहीं होत निहचै निरखिये।।
ऐसे गुन-गुनी में विभेद है सुरूप करि,
सर्वथा जुदागी न अभाव ही करखिये।
द्रव्य और गुन में विभेद विवहार तसो,
अनेकान्त पच्छसों विलच्छ के हरखिये।।६२।।

१- मथनेवाले।

दोहा

दरव और गुन के विषैं, है अन्यत्व विभेद।
जुदे दोउ नहिं सरवथा, श्रीगुरु करी निषेद।।६३।।

मनहरण

गुन-गुनीमाहिं सरवथा ही अभावरूप,
भेद माने दोनों ही को नाम सरवथा है।
जातैं जेते गुन तेते जुदे-जुदे दर्व होई,
सोऊ बात सधै नाहिं कहिवौ विकथा है।।
गुनी के अभाव भयें गुन को अभाव होत,
सोनेमाहिं साधि देखो साधी साध जथा है।
तातैं व्यवहारतैं कथंचित विभेद मानो,
वस्तुसिद्धिहेतु श्रुतिमाहिं जथा मथा है।।६४।।

(१७) गाथा-१०९ सत्ता और द्रव्य का गुण-गुणीत्व सिद्ध करते हैं

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो।
सदवट्ठिदं सहावे दव्वं ति जिणोवदेसोयं।।१०९।।

अर्थात् जो द्रव्य का स्वभावभूत (उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक) परिणाम है, वह (परिणाम) 'सत्' से अविशिष्ट (सत्ता से अभिन्न है ऐसा) गुण है। 'स्वभाव में अवस्थित (होने से) द्रव्य सत् है' - ऐसा जो (९९वीं गाथा में कथित) जिनोपदेश है वही यह है। (अर्थात् ९९वीं गाथा के कथन में से इस गाथा में कथित भाव सहज ही निकलता है।)

द्रव्य को सुभाव परिनाम जु है निश्चैकरि,
अस्तित स्वरूप सोई सत्ता नाम गुन है।

सर्व गुन में प्रधान फहरै निशान जाको,
उतपादवयधुवसंजुत सुगुन है।।
ताही असतित्तरूप सत्ता में विराजै दर्व,
यातैं सत नाम द्रव्य पावत अपुन है।
ऐसे सत्ता गुन औ दरव गुनी एकताई,
साधी कुन्दकुन्द वृन्द वन्दत निपुन है।।६५।।

(१८) गाथा–११० गुण–गुणी के अनेकत्व का खण्डन करते हैं

णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं।
दव्वत्तं पुण भावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता।।११०।।

अर्थात् इस विश्व में गुण ऐसा कुछ या पर्याय ऐसा कुछ द्रव्य के बिना (द्रव्य से पृथक्) नहीं होता; और द्रव्यत्व वह भाव है (अर्थात् अस्तित्व गुण है); इसलिए द्रव्य स्वयं सत्ता (अस्तित्व) है।

कुण्डलिया

ऐसो गुन कोऊ नहीं, दरव विना जो होय।
विना दरव परजाय हू, जग में लख न कोय।।
जग में लखै न कोय, बहुरि दिढ़तर ऐसे सुन।
दरवहि का अस्तित्वभाव; सोई सत्ता गुन।।
तिस कारन स्वयमेव, दरव सत्ता ही है सो।
अनेकान्ततैं सधत, वृन्द निरदूषन ऐसो।।६६।।

(१९) गाथा–१११ द्रव्य के सत् उत्पाद, असत् उत्पाद होने में अविरोध सिद्ध करते हैं

एवंविहं सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं।
सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा लभदि।।१११।।

अर्थात् ऐसा (पूर्वोक्त) द्रव्य स्वभाव में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के द्वारा सद्भावसंबद्ध और असद्भावसंबद्ध उत्पाद को सदा प्राप्त करता है।

छप्पय

या विधि सहजसुभावविषैं, जो दरव विराजै।
सो दरवौ परजाय, दोउ नयमय छबि छाजै।।
दरवार्थिकनय द्वार, सदा सदभावरूप है।
परजद्वारतैं असदभाव, सोई प्ररूप है।।
इन दो भावनि संजुक्त नित, उतपत होत बखानिये।
नयद्वार विविच्छाभेद है, वस्तु अभेद प्रमानिये।।६७।।

दोहा

दो प्रकार उतपादजुत, दरव रहत सब काल।
सद उतपाद प्रथम कह्यो, दुतिय असत की चाल।।६८।।

दरव अनादि अनन्त जो, निज परजैके मांहि।
उपजत हैं सो दरवदृग, सद उतपाद कहाहिं।।६९।।

जो पूरव ही थो नहीं, ताको जो उतपाद।
सो परजय-नयद्वारतैं, असदभाव निरवाद।।७०।।

(२०) गाथा-११२ सत् उत्पाद को अनन्यत्व के द्वारा निश्चित करते हैं

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो।
किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि।।११२।।

अर्थात् जीव परिणमित होता हुआ मनुष्य, देव अथवा अन्य (तिर्यंच, नारकी या सिद्ध) होगा, परन्तु मनुष्य देवादि होकर क्या वह द्रव्यत्व को छोड़

देता है? नहीं छोड़ता हुआ वह अन्य कैसे हो सकता है? (अर्थात् वह अन्य नहीं, वह का वही है।)

मनहरण

जीव दर्व आपने सुभाव प्रनवंत संत,
मानुष अमर वा अपर पर्ज धारैगो।
तिन परजायनिसों नानारूप होय तऊ,
कहा तहाँ आपनी दरवशक्ति छाँरैगो।।
जो न कहूं आपनी दरव शक्ति छाँड़ै तब,
कैसे और रूप भयो निहचै विचारैगो।
ऐसे दर्व शक्ति नानारूप परजाय व्यक्त,
जथारथ जाने वृन्द सोई आप तारैगो।।७१।।

(२१) गाथा–११३ अब असत् उत्पाद को अन्यत्व के द्वारा निश्चित करते हैं

मणुवो ण होदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि।।११३।।

अर्थात् मनुष्य देव नहीं है, अथवा देव मनुष्य या सिद्ध नहीं है; ऐसा न होता हुआ अनन्यभाव को कैसे प्राप्त हो सकता है?

एक परजाय जिहिकाल परिनवै जीव,
तिहिकाल और परजायरूप नहीं है।
मानुष परज परिनयौ तब देव तथा,
सिद्धपरजाय तहाँ कहां ठहराही है।।
देव परजाय में मनुषसिद्ध पज कहाँ,
ऐसे परजाय द्वार भेद विलगाही है।
या प्रकार एकता न आई तब कैसे नाहिं,
पजद्वार नाना नाम दरवलहाही है।।७२।।

(२२) गाथा-११४ उसमें अविरोध ही है

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो।।११४।।

अर्थात् द्रव्यार्थिक (नय) से सब द्रव्य है; और पर्यायार्थिक (नय) से वह (द्रव्य) अन्य-अन्य है, क्योंकि उस समय तन्मय होने से (द्रव्य पर्यायों से) अनन्य है।

दर्वार्थिकनय नैन खोलकर देखिये तो,
सेई दर्व और रूप भयो नाहिं कबही।
फेर परजायनय नैन तैं निहारिये तो,
सोई नानारूप भयो जैसो पर्ज जब ही।।
जातैं नर नारकादि काय जिहि काल लहै,
तासों तनमई होय रहै तैसो तब ही।
जैसे आगि एक पै प्रवेश नाना ईंधन में,
ईंधन अकारतैं भयौ है भेद सब ही।।७३।।

(२३) गाथा-११५ सप्तभंगी से ही सर्व विवाद-शान्ति

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।
पज्जाएण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा।।११५।।

अर्थात् द्रव्य किसी पर्याय से 'अस्ति', किसी पर्याय से 'नास्ति' और किसी पर्याय से 'अवक्तव्य' है, और किसी पर्याय से 'अस्ति-नास्ति' अथवा किसी पर्याय से अन्य तीन भंगरूप कहा गया है।

छप्पय

दरव कथंचित अस्तिरूप, राजैं इमि जानो।
बहुर कथंचित नास्तिरूप, सोई परमानो।।

होत सोई पुनि अवक्तव्य, ऐसे उर धरनी।
फिर काहू परकार सोइ, उभयातम वरनी।।
पुनि और सुभंगनि के विषैं, जथाजोग सोई दरव।
निरबाध वसत निजरूपजुत, श्रीगुरु भेद भने सरव।।७४।।

मनहरण

आपनी चतुष्टै दर्व-क्षेत्र-काल-भावकरि,
तिहूँ काल माहिं दरव अस्तित-सरूप है।
सोई परद्रव्य के चतुष्टै करि नास्ति सदा,
फेर सोई एकै काल उभैरूप भूप है।।
एकै काल नाहिं जात कह्यो तातैं अकथ है,
फेर सोई अस्ति अवक्तव्य सु अनूप है।
फेर नास्ति अकथ औ अस्ति नास्ति अकथ है,
कथंचित्वानी सो सुधारस को कूप है।।७५।।

तथा चोक्तं देवागमकारिकायां-

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नुवात्।
सर्व्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम्।।९।।

कार्यद्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निन्हवे।
प्रध्वंसस्य च धर्म्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत।।१०।।

सर्व्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे।
अन्यत्र समवायेन व्यपदिश्येत सर्वथा।।११।।

अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापह्नववादिनाम्।
बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधनदूषणम्।।१२।।

दोहा

एक अरथवाचक शबद, भाव अस्ति ये जान।
कहु अभाव कै नास्ति कहु, दोनों अरथ समान।।७६।।

जो पदार्थ सब सर्वथा, गहिये भावहिरूप।
अरु अभाव सब लोपिये, तौ तित दूषनभूप।।७७।।

एक दरव सरवातमक, तब निहचै ह्वै जाय।
आदि अंत पुनि नाहिं बनै, कीजे कोटि उपाय।।७८।।

ज्यों माटी में पुव्व ही, कुम्भ नहीं है रोप।
प्रागभाव याको कहत, ताको ह्वै है लोप।।७९।।

जो प्रध्वंसाभाव को, लोप करै तब येह।
कुम्भकर्म को नाश नहिं, औ अनन्तता लेह।।८०।।

जो अन्योनय अभाव है, धरम दरव के माहिं।
ताहि लोपते सब दरव, एक रूप है जाहिं।।८१।।

जो अत्यन्ता भाव है, ताहि विलोपैं ठीक।
दरव न कैस हु सधि सकै, दूषन लगै अधीक।।८२।।

तातैं दरवहि के विषैं, बसै अभाव सुधर्म।
वहां सहज सत्ता विषैं, थापैं थिर तजि भर्म।।८३।।

धरम अभाव जु वस्तु में, बसत सोइ सुन भीत।
पर-सरूप नहिं होत है, यह दिढ़ करु परतीत।।८४।।

जो अभाव ही सरवथा, माने तु समस्त।
भाव धरम को लोपि के, जो सबमें परशस्त।।८५।।

तौ ताके मत के विषैं, ज्ञान तथा सब बैन।
अप्रमान सब ही भये, साधै बाधै केन।।८६।।

इत्यादिक दूषन लगैं, तातैं हे भवि वृन्द।
वस्तु अनन्त धरममई, भाषी श्रीजिनचन्द।।८७।।

सो सब सातें भंगतैं, साधो भ्रमतम त्यागि।
अनेकान्त रस में पगो, निज-सरूप अनुरागि।।८८।।

(२४) गाथा-११६ वे पर्यायें बदलती रहती हैं

एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिष्फलो परमो।।११६।।

अर्थात् (मनुष्यादिपर्यायों में) 'यदि' ऐसी कोई (शाश्वत पर्याय) नहीं हैं; (क्योंकि संसारी जीव के) स्वभाव निष्पन्न क्रिया नहीं हो सो बात नहीं है; (अर्थात् विभावस्वभाव से उत्पन्न होनेवाली राग-द्वेषमय क्रिया अवश्य है।) और यदि परमधर्म अफल है तो क्रिया अवश्य अफल नहीं है; (अर्थात् एक वीतराग भाव ही मनुष्यादिपर्यायरूप फल उत्पन्न नहीं करती; राग-द्वेषमय क्रिया तो अवश्य वह फल उत्पन्न करती है।)

मनहरण

ऐसी परजाय कोऊ नाहीं है जगत में जो,
रागादि विभाव विना भई उतपन है।
रागादि विभाव क्रिया अफल न होय कहूं,
याको फल चारों गतिमाहिं भरमन है।।
जैसे परमानू रूछ चीकन सुभाव ही सों,
बन्ध खंधमाहिं तैसे जानो जगजन है।
जातैं वीतराग आतमीक पर्म धर्म सो तो,
बन्ध फल सों रहित तिहूँकाल धन है।।८९।।

(२५) गाथा–११७ मनुष्यादि पर्यायें जीव को क्रिया के फल

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूयं णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि।।११७।।

अर्थात् वहाँ 'नाम' संज्ञावाला कर्म अपने स्वभाव से जीव के स्वभाव का पराभव करके, मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक अथवा देव (इन पर्यायों को) करता है।

नाम कर्म आपनै सुभाव सों चिदातमा के,
सहज सुभाव को आच्छाद करि लेत है।
नर तिरजंच [१]नरकौर देव गतिमाहिं,
ननां परकार काय सोई [२]निरमेत है।।
जैसे दीप अगनिसुभाव करि तेल को सु–
भव दूर करिके प्रकाशित धरेत है।
ज्ञानावरनादि कर्म जीव को सुभाव घाति,
मनुष्यादि परजाय जैसे ही [३]करेत है।।९०।।

(२६) गाथा–११८ जीवस्वभाव का घात कैसे?

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि।।११८।।

अर्थात् मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देवरूप जीव वास्तव में नामकर्म से निष्पन्न हैं। वास्तव में वे अपने कर्मरूप से परिणमित होते हैं, इसलिए उन्हें स्वभाव की उपलब्धि नहीं है।

नामकर्म निश्चे यह जीव को मनुष्य पशु,
नारकी सु देवरूप देह को बनावै है।
तहां कर्मरूप उपयोग परिनवै जीव,
सहज सुभाव शुद्ध कहूँ न लहावै है।।

१– नरक और। २– निर्माण करता है, बनाता है। ३– करता है।

जैसे जल नीम चंदनादि-माहिं गयौ सो
प्रदेश और स्वाद निज दोनों न गहावै है।
तैसे कमभाव परिनयौ जीव अमूरत,
चिदानन्द वीतराग भाव नाहिं पावै है।।९१।।

(२७) गाथा-११९ द्रव्यरूप से अवस्थितपना होने पर भी पर्याय से अनवस्थितपना।

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा।। ११९।।

अर्थात् प्रतिक्षण उत्पाद और विनाशवाले जीव लोक में कोई उत्पन्न नहीं होता और न नष्ट होता है; क्योंकि जो उत्पाद है, वही विनाश है; और उत्पाद तथा विनाश, इस प्रकार वे अनेक (भिन्न) भी हैं।

छप्पय

इमि संसारमझार, दरव के द्वार जु देखा।
तौ कोऊ नहिं नसत, न उपजत यही विशेखा।।
जो परजै उतपाद होत, सोई वय हो है।
उतपत वय की दशा, विविध परजय में सोहै।।
धुव दरव स्वांग बहु धारिके, गत गत में नाचत विगत।
परजय अधार निरधार यह, दरव एक निजरस पगत।।९२।।

(२८) गाथा-१२० अनवस्थितता का हेतु

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स।। १२०।।

अर्थात् इसलिए संसार में स्वभाव से अवस्थित ऐसा कोई नहीं है; (अर्थात् संसार में किसी का स्वभाव केवल एकरूप रहनेवाला

नहीं है); और संसार तो संसरण करते हुये (गोल फिरते हुये, परिवर्तित होते हुये) द्रव्य की क्रिया है।

तिस कारन संसारमाहिं, थिर दशा न कोई।
अथिररूप परजैसुभाव, चहुंगति में होई।।
दरवनि की संसरन क्रिया, संसार कहावै।
एक दशा को त्यागि, दुतिय जो दशा गहावै।।
या विधि अनादि तैं जगत में, तन धरि चेतन भमत है।
निज चिदानन्द चिद्रूप के, ज्ञान भये दुख दमत है।।९३।।

विशेष वर्णन – मनहरण

ताही तैं जगतमाहिं ऐसो कोऊ काय नाहिं,
जाको अवधारि जीव एक रूप रहैगो।
याको तो सुभाव है अथिररूप सदा ही को,
ऐसे सरधान धरै मिथ्यामत बहैगो।।
जीव की अशुद्ध परनतिरूप क्रिया होत,
ताको फल देह धारि चारों गति लहैगो।
याको नाम संसार बखाने सारथक जिन,
जाकी भवथिति घटी सोई [१]सरदहैगो।।९४।।

(२९) गाथा–१२१ किस कारण से संसारी को पुद्गल का संबंध होता है?

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो।।१२१।।

अर्थात् कर्म से मलिन आत्मा कर्मसंयुक्त परिणाम को (द्रव्यकर्म

१– श्रद्धान करेगा।

के संयोग से होनेवाले अशुद्ध परिणाम को) प्राप्त करता है, उससे कर्म चिपक जाता है (द्रव्यकर्म का बन्ध होता है); इसलिए परिणाम, वह कर्म है।

मनहरण

अनादि तैं पुग्गलीक कर्मसों मलीन जीव,
रागादि विकार भाव कर्म को लहत है।
ताही परिनामनितैं पुग्गलीक दर्व कर्म,
आय के प्रदेशनिसों बंधन गहत है।।
तातैं राग आदिक विकारभाव भावकर्म,
नयो दर्वकरम को कारन कहत है।
ऐसो बंधभेद भेदज्ञानतैं विवेद वृन्द,
साधी है सिद्धांतमाहिं सुगुरु महत है।।९५।।

प्रश्न – दोहा

दरव करमतैं भावमल, भाव करमतैं दव्व।
यामैं पहिले कौन है, मोहि बतावो अव्व।।९६।।

इतरेतर आश्रय यहां, आवत दोष प्रसंग।
ताको उत्तर दीजिये, ज्यों होवै भ्रम भंग।।९७।।

उत्तर

उत्तर सुनो! अनादितैं, दरव करम करि जीय।
है प्रबंध ताको सुगुरु, कारन पुव्व गहीय।।९८।।

ताही पूरवबंध करि, होहि विभाव विकार।
ताकरि नूतन बँधत है, यहाँ न दोष लगार।।९९।।

जगदागमहूतैं यही, सिद्ध होत सुखधाम।
जो है करम निमित्त विनु, रागादिक परिनाम।।१००।।

तो वह सहज सुभाव ह्वै, मिटै न कबहूं येव।
तातैं दरवकरम निमित, प्रथम गही गुरुदेव।।१०१।।

दरवकरम पुदगलमई, पुदगल करता तास।
भावकरम आतम करै, यह निहचै परकास।।१०२।।

पुनः प्रश्न

तुम भाषत हौ हे सुगुरु, 'जीवकरमसंजोग'।
सो क्या प्रथम पृथक हुते, पाछे भयो नियोग।।१०३।।

जासु नाम 'संजोग' है, ताको तो यह अर्थ।
जुदी वस्तु मिलि एक ह्वै, कीजे अर्थ समर्थ।।१०४।।

उत्तर-मनहरन

जैसे तिलीमाहिं तैल आगि है पखानमाहिं,
छीरमाहिं नीर हेम खानि में समल है।
इन्हैं जब कारनतैं जुदे होत देखैं तब,
जानै जो मिलापहू में जुदे ही जुगल है।।
तैसे ही अनादि पुग्गलीक दर्व करमसों,
जीव को संबंध लसैं एक थल रल है।
भेदज्ञान आदि शिव साधनतैं न्यारो होत,
ऐसे निरबाध संग सधत विमल है।।१०५।।

मतांतर । दोहा ।

केई मतवाले कहैं, प्रथम अमल थो जीव।
माया जड़सों मलिन ह्वै, चहुँगति भमत सदीव।।१०६।।

प्रगट असंभव बात यह, शुद्ध अमल चिद्रूप।
क्योंकरि बन्ध दशा लहै, परैं केम भवकूप।।१०७।।

विमलभाव तब बन्ध को, कारन भयो प्रतच्छ।
मोच्छ अमलता तब कहो, कैसें सधै विलच्छ।।१०८।।

(३०) गाथा–१२२ अब परमार्थ से आत्मा के द्रव्य कर्म का अकर्तृत्व।

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता।। १२२।।

अर्थात् परिणाम स्वयं आत्मा है, और वह जीवमय क्रिया है; क्रिया को कर्म माना गया है; इसलिए आत्मा द्रव्यकर्म का कर्त्ता तो नहीं है।

मनहरण

परिनामरूप स्वयमेव आप आतमा है,
जातैं परिनाम परिनामी में न भेद है।
सोई परिनामरूप क्रिया जीवमयी होत,
आपनी क्रियातैं तनमयता अछेद है।।
जीव की जो क्रिया ताको भावकर्म नाम कह्यौ,
याको करतार जीव निहचै निवेद है।।
तात दर्व करम को आतमा अकरता है।
याको करतार पुद्गल कर्म वेद है।।१०९।।

प्रश्न – दोहा

भावकरम आतम करै, यह हम जानी ठीक।
दरव करम अब को करै, यह सन्देह अधीक।।११०।।

उत्तर – मनहरण

जैसे भाव कर्म को करैया जीव राजत है,
पुग्गल न ताको करै कभी यों पिछानियौ।

निज निज भाव के दरव सब करता हैं,
पर के सुभाव को न करै कोऊ मानियौ।।
यह तो प्रतच्छ भेद ज्ञान तैं विलच्छ देखो,
सवै निज कारज के करता प्रमानियौ।
दरव करम पुदगल पिण्ड तातैं याको,
करतार पुग्गल दरव सरधानियौ।।१११।।

(३१) गाथा-१२३ तीन प्रकार की चेतना

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा।। १२३।।

अर्थात् आत्मा चेतनारूप से परिणमित होता है। और चेतना तीन प्रकार से मानी गयी है; और वह ज्ञानसंबंधी, कर्मसंबंधी अथवा कर्मफल संबंधी—ऐसी कही गयी है।

सवैया (३१ मात्रा)

आतम निज चेतन सुभाव करि, प्रनवतु है निहचै निरधार।
सो चेतनता तीन भाँति है, यों वरनी जिनचंद उदार।।
ज्ञानचेतना प्रथम वखानी, दुतिय करमचेतना विचार।
त्रितियकरमफलचेतनता है, वृन्दावन ऐसे उद्धार।।११२।।

(३२) गाथा-१२४ उनका स्वरूप

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा।। १२४।।

अर्थात् अर्थविकल्प (अर्थात् स्व-पर पदार्थों का भिन्नतापूर्वक युगपत् अवभासन) वह ज्ञान है; जीव के द्वारा जो किया जा रहा हो वह कर्म है, वह अनेक प्रकार का है; सुख अथवा दु:ख वह कर्मफल कहा गया है।

मनहरण

जीवादिक सुपर पदारथ को भेदजुत,
तदाकार एकै काल जानै जो प्रतच्छ है।
सोई ज्ञानचेतना कहावत अमलरूप,
वृन्दावन तिहूँ काल विशद विलच्छ है।।
जीव के विभाव को अरंभ कर्मचेतना है,
दर्वकर्म द्वार जामें भेदन को गच्छ है।
सुख-दुखरूप कर्मफल अनुभवै जीव,
कर्मफलचेतना सो भाषी श्रुति स्वच्छ है।।११३।।

(३३) गाथा-१२५ ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो।। १२५।।

अर्थात् आत्मा परिणामात्मक है; परिणाम ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप होता है; इसलिए ज्ञान, कर्म और कर्मफल आत्मा है — ऐसा समझना।

परिनाम आतमीक आप यह आतमा है,
सदा काल एकताई तासों तदाकार है।
सोई परिनाम ज्ञान कर्म कर्मफल तीनों,
चेतनता होन को समरथ उदार है।।
याही एकताई तैं सुज्ञान कर्म कर्मफल,
तीनों रूप आतमा ही जानो निरधार है।
अभेद विवच्छातैं दरव ही के अंतर में,
भेद सर्व लीन होत भाषी गनधार[१] है।।११४।।

१- गणधरदेव ने।

(३४) गाथा–१२६ उसका ठीक निश्चयवाला होकर अन्यथा न परिणमन करे तो शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं।। १२६।।

अर्थात् यदि श्रमण 'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा है' ऐसा निश्चयवाला होता हुआ अन्यरूप परिणमित ही नहीं हो, तो वह शुद्ध आत्मा को उपलब्ध करता है।

करता [१]करन तथा करम करमफल,
चारों रूप आतमा विराजैं तिहूँपन में।
ऐसे जिन निहचै कियो है भलीभाँति करि,
एकता सुभाव अनुभवैं आपु मन में।।
परदर्वरूप न प्रनवै काहू कालमाहिं,
लागी है लगन जाकी आतमीक धन में।
सोई मुनि परम धरम शिवसुख लहै,
वृन्दावन कबहूँ न आवै भव वन में।।११५।।

दोहा

भेदभाव जेते कहे, तेते वचनविलास।
निरविकलप चिद्रूप है, गुन अनन्त की रास।।११६।।

समल अमल दोनों दशा, तामें आतम आप।
चार भेदमय सुथिर है, देखो निजघट व्याप।।११७।।

यों जब उर सरधा धरै, तजि परसों अनुराग।
परममोखसुख तब लहै, चिदानंदरस पाग।।११८।।

१– करण।

मनहरण

जैसे लाल फूल के उपाध सों फटिकमाहिं,
लालरूप लसत विशाल ताकी छटा है।
तैसे ही अनादि पुदगल कर्मबन्ध के,
संजोगसों उपज्यौ जीवमाहिं राग ठटा है।।
जवै उपाधीक रंग संगतैं नियारौ होत,
तबै शुद्ध जोति जगै फटै मोहघटा है।
एक परनत परमानू ज्यों न बँधै त्यों ही,
रागादि विभाव विना बंधभाव कटा है।।११९।।

छप्पय

जब यह आतम आप, भेदविज्ञान धार करि।
निज सरूप कों लखै, सकल भ्रमभाव टार करि।।
करता करम सुकर्म, कर्मफल चार भेदमय।
चिदविलास ही समल, अमल दोउ दशामाहिं हय।।
इमि जानि तब हि परवस्तुतैं, रागादिक ममता हरै।
निज शुद्ध चेतनाभाव में, सुथिर होय शिवतिय वरै।।१२०।।

कवित्त (३१ मात्रा)

इहि प्रकार निरदोष बतायो, शिवपुर को मग सुखद सदीव।
ताहि त्यागि जो आन जतन सों, चाहत होन मूढ़ शिवपीव।।
सो मूरख परधान जगत में, तोस आश विपरीत अतीव।
जीभ स्वाद के कारन सो शठ, पानी मथिके चाहत घीव।।१२१।।

अधिकारान्तमंगल। मत्तगयन्द।

श्रीजिनचन्द सुखाम्बुधिवर्द्धन, भव्यकुमोदप्रमोदक नीको।
जन्मजरामृततापविनाशन, शासन है जनके हित ही को।।

शुद्धपयोग निरोग सु भेषज, पोषन को समरत्थ अधी को।
सो इत मंगल भूरि भरो प्रभु, वंदत वृन्द सदा तुमही को।।१२२।।

दोहा

वंदों श्री सरवज्ञपद, भ्रमतभंजनभान।
विघनहरन मंगलकरन, देत विमल कल्यान।।१२३।।

श्रीमत्प्रवचनसार की, भाषाटीकामाहिं।
दरवनिको सामान्यतः, कथन समाप्त कराहिं।।१२४।।

इतिश्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृतपरमागमश्रीप्रवचनसारजी ताकी वृन्दावनकृतभाषाविषैं दरवनिका सामान्यवर्णन का अधिकार चौथा पूरा भया।

इहां ताईं सर्व गाथा १२७ एक सौ सत्ताईस भईं और भाषा के छंद सर्व ४६२ चारिसौ बासष्ठ भये जो सो जयवंत होऊ। लिखी वृन्दावन ने यही प्रथम प्रति है। मंगलमस्तु। श्रीरस्तु। मिती मार्गशीर्ष कृष्णा १३।। गुरुवार संवत् १९०५।। काशीजी में, निज परोपकारार्थ। भूलचूक विशेषीजन शोधि शुद्ध कीजो।।

अथ पंचमोविशेषज्ञेयतत्त्वाधिकारः

मंगलाचरण – दोहा

वंदों आतम जो त्रिविध, वर्जित कर्मविकार।
नेत भेत ज्ञातृत्व जुत, सब विधि मंगलकार।।१।।

अब विशेषता दरवका, कथनरूप अधिकार।
श्रीगुरु करत अरंभ सो, जैवंतो सुखकार।।२।।

(१) गाथा–१२७ द्रव्य विशेषों के भेद

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं।। १२७।।

अर्थात् द्रव्य जीव और अजीव है। उसमें चेतनामय तथा उपयोगमय सो जीव है, और पुद्गलद्रव्यादिक अचेतन द्रव्य वे अजीव हैं।

मनहरण

सत्तारूप दर्व दोय भांति है अनादि सिद्ध,
जीव औ अजीव यही साधी श्रुति मंथ है।
तामें जीव लच्छन विलच्छन है चेतनता,
जास को प्रकाश अविनाशी पूंज पंथ है।।
ताही को प्रवाह ज्ञान दर्शनोपयोग दोय,
सामान्य विशेष वस्तु जानिवेतैं कंथ है।
पुग्गलप्रमुख दर्व अजीव अचेतन हैं,
ऐसे वृन्द भाषी कुन्दकुन्द निरगंथ है।।३।।

(२) गाथा-१२८ आकाश एक उसके दो भेद

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु।।१२८।।

अर्थात् आकाश में जो भाग जीव और पुद्गल से संयुक्त तथा धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और काल से समृद्ध है, वह सर्व काल में लोक है। (शेष केवल आकाश वह अलोक है।)

छप्पय

जो नभ को परदेश जीव, पुदगल समेत है।
धर्माधर्म सु अस्तिकाय,-को जो निकेत है।।
कालानूजुत पंच दरव, परिपूरन जामें।
सोई लोकाकाश जानु, संशय नहिं यामें।।
सब कालमाहिं सो अचल है, अवगाहन गुन को धरैं।
तसु परे अलोकाकाश जहँ, पंच रंच नहि संचरैं।।४।।

(३) गाथा-१२९ क्रियावती-भाववतीरूप द्रव्य के भाव हैं उनकी अपेक्षा से द्रव्य के भेद

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स।
परिणामा जायंते संघादादो व भेदादो।।१२९।।

अर्थात् पुद्गल-जीवात्मक लोक के परिणमन से और संघात (मिलने) और भेद (पृथक् होने) से उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय होते हैं।

दोहा

पुदगल अरु जीवातमक, जो यह लोकाकाश।
ताके थिति उतपाद वय, परनति होत प्रकाश।।५।।

भेद तथा संघाततैं, ज्यों श्रुति करत बखान।
ताको उर सरधा धरो, त्यागो कुमत-वितान।।६।।

मनहरण

क्रियावन्त भाववन्त ऐसे दोय भेदनितैं,
दर्वनि में भेद दोय भाषी भगवन्त है।
मिलि विछुरन हलचलन क्रिया है औ,
सुभाव परनति गहै सोई भाववन्त है।।
जीव पुदगलमाहिं दोनों पद पाइयत,
धर्माधर्म काल नभ भाव ही गहत है।
धन्य धन्य केवली के ज्ञान को प्रकाश वृन्द,
एकै वार सर्व सदा जामें झलकंत है।।७।।

(४) गाथा-१३० अब यह बताते हैं कि-गुण-विशेष (गुणों के भेद) से द्रव्यों का भेद।

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।
तेऽतब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया।। १३०।।

अर्थात् जिन लिङ्गों से द्रव्य जीव और अजीव के रूप में ज्ञात होता है, वे अतद्भाव विशिष्ट (द्रव्य से अतद्भाव के द्वारा भिन्न ऐसे) मूर्त-अमूर्त गुण जानने चाहिए।

मनहरण

जीवाजीव दर्व जिन चिह्ननितैं भलिभांति,
चीह्ने जाने जाहिं सोई लच्छन बखाना है।
सो है वह दर्व के सरूप की विशेषताई,
जुदो कछु वस्तु नाहिं ऐसे परमाना है।

मूरतीक दरव को लच्छन हू मूरतीक,
अमूरतिवंतनि को अमूरत बाना है।
लच्छ के जनायवे तैं लच्छन कहावै वृन्द,
प्रदेशतैं एकमेक सिद्ध ठहरानाह है।।८।।

लक्षण यथा – दोहा

मिली परस्पर वस्तु को, जाकरि लखिये भिन्न।
लच्छन ताही को कहत, न्यायमती [१]परविन्न।।९।।

जो सुकीय नित दरव के, है अधार निरबाध।
सोई गुन कहलावई, वर्जित दोष उपाध।।१०।।

तेई दरवनि के सुगुन, लच्छन नाम कहाहिं।
जातैं तिनकरि जानियै, लच्छ दरव सब ठाहिं।।११।।

भेद विवच्छातैं कहे, गुनी सुगुन में भेद।
वस्तु विचारत एक है, ज्ञानी लखत अखेद।।१२।।

(५) गाथा–१३१ मूर्त–अमूर्त गुण वे किन द्रव्यों में हैं

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा।। १३१।।

अर्थात् इन्द्रियग्राह्य ऐसे मूर्तगुण पुद्गलद्रव्यात्मक अनेक प्रकार के हैं; अमूर्त द्रव्यों के गुण अमूर्त जानना चाहिए।

छप्पय

मूरतीक गुनगन इन्द्रिनि के, गहन जोग है।
सो वह पुग्गल दरवमई, निहचै प्रयोग है।।

१– प्रवीण = चतुर

वरन गंध रस फांस, आदि बहु भेद तासके।
अब सुनि भेद अमूरत, दरवनि के प्रकाशके।।
जो दरव अमूरतवन्त है, तासु अमूरत गुन लसत।
सो ज्ञान अतिंद्री के विषैं, प्रतिबिम्बित जुगपत बसत।।१३।।

(६) गाथा–१३२ मूर्त पुद्गल द्रव्य का गुण है

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवापरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो।। १३२।।

अर्थात् वर्ण, रस, गन्ध, और स्पर्श (गुण) सूक्ष्म से लेकर पृथ्वी पर्यन्त के (सर्व) पुद्गल के होते हैं; जो विविध प्रकार का शब्द है वह पुद्गल अर्थात् पौद्गलिक पर्याय है।

मतगयन्द

पुग्गलदर्वविषैं गुन चार, सदा निरधार विराजि रहे हैं।
वर्न तथा रस गंध [१]सपर्स, सुभाविक संग अभंग लहे हैं।।
[२]पर्मअनू अति सुच्छिमतैं, पृथिवी परजंत समस्त गहे हैं।
और जु शब्द सो पुग्गल की, परजाय विचित्त अनित्त कहे हैं।।

षट्कारक पुद्गल वर्णन–दोहा

षट प्रकार पुदगल कहे, सुनो तासुके भेद।
जथा भनी सिद्धान्त में, संशयभाव विछेद।।१५।।

सूच्छिम सूच्छिम प्रथम है, सूच्छिम दूजो भेद।
सूक्ष्मथूल तीजो कह्यौ, थूलसूक्ष्म है वेद[३]।।१६।।

थूल पंचमों जानियै, थूलथूल षट एम।
अब इनको लच्छन सुनो, श्रुति मथि भाषत जेम।।१७।।

१– स्पर्श। २. परमाणु। ३. चौथा।

मनहरण

प्रथम विभेद परमानू परमान मान,
कारमानवर्गना दुतीय सरधान है।
नैन नाहिं गहैं चार इंद्री जाहि गहैं सोई,
तीजो भेद विषैके विवशतैं निदान है।।
चौथो भेद नैनतैं निहारियै जु छायादि सो,
हस्तादिसों नाहिं गह्यौ जात परमान है।
पांचमो विभेद जल तेल मिलै छेदै भेदै,
छठो भूमि भूधरादि संधि न मिलान है।।१८।।

वर्णभेद-दोहा

अरुन पीत कारो हरो, सेत वरन ये पंच।
इनके अंतर के विषैं, भेद अनंते संच।।१९।।

रसभेद

खाटा मीठा चिरपिग, करुआ और कषाय।
पांच भेद रस के कहे, तासु भेद बहु भाय।।२०।।

गन्धभेद

गन्ध दोय परकार है, प्रथम सुगन्ध पुनीत।
दुतिय भेद दुरगन्ध है, यों समुझो उर मीत।।२१।।

स्पर्शभेद

तपत शीत हरुवो गरू, नरम कठोर कहाय।
रुच्छ चीकनो फरस के, आठ भेद दरसाय।।२२।।

प्रश्न - चौपाई।

पुदगल के गुन वरने जिते। इंद्रीगम्य कहे तुम तिते।
तहां होत शंका मनमाहिं। सुनिये कहो वेद की छाहिं।।२३।।

परमानू अति सूच्छिम भना। कारमान की पुनि वरगना।
तिनहू में चारों गुन वसैं। क्यों नहिं इन्द्री ग्राहै तिसै।।२४।।

उत्तर – कवित्त (३१ मात्रा)

परमानू आदिक पुदगल को, इन्द्रीगम्य कहे रस हेत।
जब वह खंध बंध में ऐहै, शक्त व्यक्त करि सुगुन समेत।।
तब सो इन्द्रीगम्य होइगो, व्यक्तरूप यों लखो सचेत।
इन्द्रीनि के हैं विषय तासु गुन, तिसा अपेच्छा कथन कथेत।।२५।।

पुनः प्रश्न – दोहा

पुदगल मूरतिवंत जिमि, तीमि ह्वै शब्द प्रतीत।
तौ पुदगल को गुन कहौ, परज कहौ मति मीत।।२६।।

उत्तर

गुन को लच्छन नित्त है, परज अनित्त प्रतच्छ।
गुन होते तित शबद नित, हावा करतो दच्छ।।२७।।

जो होतौ गुन तौ सुनो, अनू आदि के माहिं।
सदा शबद उपजत रहत, सो तौ लखियत नाहिं।।२८।।

खंधनि के व्याघाततैं, होत शबद परजाय।
प्रथम भेद भाषामई, दुतिय अभाषा गाय।।२९।।

मनहरण

केई मतवाले कहैं शब्द गुन अकाश को,
तासों स्यादवादी कहै यह तो असंभौ है।
आकाश अमूरतीक इन्द्रिनि के गम्य नाहिं
शब्द तो श्रवणसेती होत उपालंभौ है।

कारन अमूरत को कारजहू तैसो होत,
यह तो सिद्धान्त वृन्द ज्यों सुमेरु थंभौ है।
सर्व ही अकाशतैं शबद सदा चाहियत,
गुनी गुन तजै कैसे बड़ो ही अचंभौ है।।३०।।

दोहा

तातैं शबद प्रतच्छ है, पुदगल को परजाय।
खंध जोगतैं उपजत, वरन अवरन सुभाय।।३१।।

प्रश्न–

पुदगल की पराजय तुम, शबद कही सो ठीक।
श्रवन हि ताकों गहत है, यही सनातन लीक।।३२।।
और चार इन्द्रीनि करि, क्यों नहिं लखियै ताहि।
मूरतीक तौ सब गहैं; याको करो निबाह।।३३।।

उत्तर –

पांचो इन्द्रिनि के विषय, जुदे कहे श्रुतिमाहिं।
तहां न ऐसो नेम की, सब सब विषय गहाहिं।।३४।।
नेम यही जानो प्रगट, निज-निज विषयनि अच्छ।
गहन करहिं नहिं अपर के, विषय गहहिं परतच्छ।।३५।।
ताहीतैं वह श्रवन को, शबद विषय दिढ़ जान।
श्रवन हि ताकों गहन है, और न गहत निदान।।३६।।

प्रश्न – छप्पय

इहां प्रश्न कोउ करत, गंध गुन नीरमाहिं नहिं।
ताहीतैं नाशिका नाहिं, संग्रहत तासुकहिं।।

अगनि गंध रस रहित, घ्रान रसना नहिं गाहै।
पौन में न दरसात, गंध रस रूप कहां है।।
ताही तैं नाक-नयन-रसन, मारुत को नहिं गहि सकत।
गुन होत गहहि निज निज विषय, यही अच्छ की रीति अत।।

उत्तर - दोहा

पुदगल दरब घरै सदा, फरस रूप रस गंध।
सब परजायनि के विषैं, परमानू लगि खंध।।३८।।

कहूँ कोउ गुन मुख्य है, कहूँ कोउ गुन गौन।
चारमाहिं कमती नहीं, यह निहचै चिंतौन।।३९।।

एक परज में जे अनू, प्रनई हैं परधान।
दुतिय रूप सो परिनवहिं, देखत दृष्टि प्रमान।।४०।।

वरनो तैं वरनांतर, रसतैं पुनि रस और।
इत्यादिक प्रनवत रहत, जथाजोग सब ठौर।।४१।।

छप्पय

चंद्रकांत पाषानकाय, पृथिवी पृथिवीतल।
श्रवन तासुतैं अंबु, गंधगुनरहित सुशीतल।
लखो वारितैं होत काय पुहमी मुकताफल।
अरणि दारुतैं अनल होत, जलतैं सु वायुबल।।
इत्यादि अनेक प्रकार को, प्रनवन बहुत विधान है।
तातैं सब परवै के विषैं, चारों गुन परधान है।।४२।।

दोहा

तातैं पृथ्वी आदि के, पुदगल में नहिं भेद।
प्रनवनमाहिं विभेद है, यो गुरु करी निवेद।।४३।।

सबही में फरसादि गुन, चारों हैं निरधार।
वृन्दावन सरधा धरो, सब संशय परिहार।।४४।।

(७-८) गाथा-१३३-१३४ शेष अमूर्त द्रव्यों के गुण

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा।।१३३।।

कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं।।१३४।। जुगलं।

अर्थात् आकाश का अवगाह, धर्मद्रव्य का गमनहेतुत्व और अधर्म द्रव्य का गुण स्थानकारणता है। काल का गुण वर्तना है, आत्मा का गुण उपयोग कहा है। इस प्रकार अमूर्त द्रव्यों के गुण संक्षेप से जानना चाहिए।

मनहरण

एकै काल सरव दरवनि को थान दान,
कारन विशेष गुन राजत अकास में।
धरम दरव को गमन हेत कारन है,
जीव पुदगल के विचरन विलास में।।
अधरम दर्व को विशेष गुन थिति होत,
दोनों क्रियावंतनि के थित परकास में।
काल को सुभाव गुन वरतनाहेत कह्यौ,
आतमा को गुन उपयोग प्रतिभास में।।४५।।

दोहा

ऐसे मूरतिरहित के, गुन संक्षेप भनंत।
वृन्दावन तामें सदा, हैं गुन और अनंत।।४६।।

जो गुन जासु सुभाव है, सो गुन ताहीमाहिं।
औरनि के गुन और में, कबहूँ व्यापैं नाहिं।।४७।।

नभ को तो उपकार है, पाँचों पर सुन मीत।
धर्माधर्मनि को लसै, जिय पुदगल सों रीत।।४८।।

काल सबनिपै करतु है, निज गुन तैं उपकार।
नव जीरन परिनमन को, यातैं होत विचार।।४९।।

जीव लखै जुगपत सकल, केवलदृष्टि पसार।
याही तैं सब वस्तु को, होत ज्ञान अविकार।।५०।।

(९) गाथा–१३५ प्रदेश–अप्रदेशत्व

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं।
सपदेसेहिं असंखा णत्थि पदेस त्ति कालस्स।। १३५।।

अर्थात् जीव पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म और आकाश स्व प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यात अर्थात् अनेक हैं; काल के प्रदेश नहीं हैं।

दोहा

जीवरु पुद्गल काय नभ, धरम अधरम तथेस।
हैं असंख परदेशजुत, 'काल' रहित परदेस।।५१।।

मनहरण

एक जीव दर्व के असंख परदेश कहे,
संकोच विथार जथा दीपकपै ढपना।
पुग्गल प्रमान एक अप्रदेशी है तथापि,
मिलन शकति सों बढ़ावै वंश अपना।।

धर्माधर्म अखंड असंख परदेशी नभ,
सर्वगत अनंत प्रदेशी वृन्द जपना।
कालानू में मिलन शकति को अभाव तातैं,
अप्रदेशी ऐसे जानैं मिटै ताप तपना।।५२।।

(१०) गाथा–१३६ वे द्रव्य कहाँ रहते हैं।

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहिं आददो लोगो।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा।। १३६।।

अर्थात् आकाश लोकालोक में है, लोक धर्म और अधर्म से व्याप्त है, शेष दो द्रव्यों का आश्रय लेकर काल है, और शेष दो द्रव्य जीव और पुद्गल हैं।

लोक औ अलोक में आकाश ही दरव और,
धर्माधर्म जहां लगु पूरित सो लोक है।
ताही विषैं जीव पुदगल को प्रतीत करो,
काल की असंख जुदी अनुहू को थोक है।।
समयादि परजाय जीव पुदगल ही के,
परिनामनि सों परगटत सुतोक है।
कजर की रेनुकरि भरी कजरौटी जथा,
तथा वृन्द लोक में विराजै दर्वथोक है।।५३।।

दोहा

धर्माधर्म दरव दोऊ, गति थिति के सहकार।
ये दोनों जहँ लगु सोई, लोकसीम निरधार।।५४।।

(११) गाथा-१३७ यह किस प्रकार से संभव है?

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो।। १३७।।

अर्थात् जैसे वे आकाशप्रदेश हैं, उसी प्रकार शेष द्रव्यों के प्रदेश हैं (अर्थात् जैसे, आकाश के प्रदेश परमाणुरूपी गज से नापे जाते हैं, उसी प्रकार शेष द्रव्यों के प्रदेश भी इसी प्रकार नापे जाते हैं)। परमाणु अप्रदेशी हैं; उसके द्वारा प्रदेशोद्भव कहा है।

दोहा

ज्यों नभ के परदेश हैं, त्यों औरनि के मान।
अपदेशी परमानु ते, होत प्रदेश प्रमान।।५५।।

मनहरण

एक परमानू के बराबर अकाश छेत्र,
ताही को प्रदेश नाम ज्ञानी सिद्ध करी है।
परमानु आप अपदेशी है सुभाव ही तैं,
सूछिम न यातैं और ऐसी दिढ़तरी है।।
ताही परदेश तैं अनंत परदेशी नभ,
धर्माधर्म एक जीव असंख प्रसरी है।
ऐसे परदेश को प्रमान औ विधान कह्यौ,
स्वामी कुन्दकुन्द वृन्द बंदै मोह भरी है।।५६।।

प्रश्न - दोहा

नभ पुनि धर्माधर्म के, कहे प्रदेश जितेक।
सो तो हम सरधा करी, ये अखंड थिर टेक।।५७।।

जीव अमूरत तन धरै, तासु असंख प्रदेश।
सो कैसे करि संभवै, लघु दीरघ जसु भेस।।५८।।

उत्तर

संकोचन अरु विस्तरन, दोह शकति जियमाहिं।
जहँ जसे तन को धरै, तहँ तैसो ह्वै जाहि।।५९।।

ज्यों दीपक परदेशकरि, जो कछु धरत प्रमान।
लघु दीरघ ढकना ढकैं, तजत न अपनो बान।।६०।।

बालक वयतैं तरुन जब, होत प्रगट यह देह।
बढ़त प्रदेश समेत तन, यामें कह संदेह।।६१।।

थूल अंग रुज संगतैं, जासु कृशित व्है जात।
तहँ प्रदेश संकोचता, विदित विलोको भ्रात।।६२।।

(१२) गाथा-१३८ कालाणु अप्रदेशी ही है

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स।।१३८।।

अर्थात् काल तो अप्रदेशी है, प्रदेशमात्र पुद्गल-परमाणु आकाशद्रव्य के प्रदेश को मन्दगति से उल्लंघन कर रहा हो तब वह वर्तता है अर्थात् निमित्तभूततया परिणमित होता है।

मनहरण

कालानू दरव अप्रदेशी है असंख अनू,
मिलन सुभाव के सरवथा अभावतैं।
सो प्रदेश मात्र पुग्गलानू के निमित्तसेती,
सभै पर्ज प्रगटिकै वर्तत बतावतैं।

आकाश के एक परदेश तैं दुतीयपर,
जवै पुग्गलानु चलै मंदगति दावतैं।
ऐसे निश्चै विवहार काल को सरूप भेद,
ज्ञानी जीव जानि के प्रतीत चित लावते।।६३।।

दोहा

लोकाकाश प्रदेश प्रति, कालानू परिपूर।
हैं असंख निरबाध नित, मिलन शकति तैं दूर।।६४।।

ताही एक प्रदेश तैं, जब पुदगल परमानु।
चलै मंदगति दुतिय पर, तब सो समय बखान।।६५।।

याही समय प्रमानकरि, है धुव वय उतपाद।
वरतमान सब दरव में, विवहारिक मरजाद।।६६।।

(१३) गाथा–१३९ उनके द्रव्य और पर्याय

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी।। १३९।।

अर्थात् परमाणु एक आकाश प्रदेश का (मन्दगति से) उल्लंघन करता है तब उसके बराबर जो काल (लगता है) वह 'समय' है; उस (समय) से पूर्व तथा पश्चात् ऐसा (नित्य) जो पदार्थ है वह कालद्रव्य है; 'समय' उत्पन्नध्वंसी है।

मनहरण

एक कालअनू तैं दुतीय कालअनू पर,
जात जवैं पुग्गलानु मंदगति करिकै।
तामें जो विलंब होत सोई काल दरव को,
समै नाम परजाय जानो भर्म हरिकै।।

ताके पुव्व परे जो पदारथ हैं नितभूत,
सोई काल दरव है ध्रौव धर्म धरिकै।
समय परजाय उतपाद वयरूप कहे,
ऐसे सरधान करो शंका परिहरिकै।।६७।।

दोहा

जो अखंड ब्रहमंडवत, काल दरवहू होत।
समय नाम परजाय तब, कबहुं न होत उदोत।।६८।।

भिन्न-भिन्न कालानु जब, अमिल सु... भी होय।
गनितरीतिगत कर्म में, तब ही बनै बनोय।।६९।।

इक कालानू छांडिकै, जब दुतीय पर जात।
पुग्गलानु गति मंद करि, तब सो समय कहात।।७०।।

सो निरंश अति सूक्ष्म है, काल दरव की पर्ज।
याही तैं क्रम चढ़ि बढ़त, सागरांत लगु सर्ज।।७१।।

प्रश्न -

पुग्गलानु गति शीघ्र करि, चौदह राजू जात।
समय एक में हे सुगुरु, यह तो बात विख्यात।।७२।।

तहां सपरसत काल के, अनु असंख मगमाहिं।
याहू में शंका नहीं, श्रेणीबद्ध रहाहिं।।७३।।

पुव्वापर के भेदतैं, समयमाहिं तित भेद।
असंख्यात क्यों नहि कहत, यामें कहा निषेद।।७४।।

उत्तर -

जिमि प्रदेश आकाश को, परमानू परमान।
अति सूच्छिम निरअंश है, मापन गज परधान।।७५।।

ताही में नित बसत है, अनु अनंत को खंध।
अंश अनंत न होत तसु, लहि तिनको सनबंध।।७६।।

यह अवगाहन शकति की, है विशेषता रीत।
तिमि तित गति परिनाम की, है विचित्रता मीत।।७७।।

समय निरंश सरूप है, बीजभूत मरजाद।
सरब दरब परवरतई, धुव वय पुनि उतपाद।।७८।।

(१४) गाथा–१४० आकाश के प्रदेश का लक्षण

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं।।१४०।।

अर्थात् एक परमाणु जितने आकाश में रहता है उतने आकाश को 'आकाशप्रदेश' ऐसे नाम से कहा गया है। और वह समस्त परमाणुओं को अवकाश देने को समर्थ है।

मनहरण

एक पुग्गलानु अविभागी जिते आकाश में,
बैठे सोई अकाश को प्रदेश बखान है।
ताही परदेशमाहिं और पंच द्रव्यनि के,
प्रदेश को थान दान देइवे को बान है।।
तथसा पर्म सूच्छिम प्रमान के अनंत खंध,
तेऊ ताही थान में विराजैं थिति ठान है।
निरबाध सर्व निज निज गुन पर्ज लिये,
ऐसी अवगाहन की शकति प्रधान है।।७९।।

प्रश्न – छन्द नराच

आकाश दर्व तो अखंड एकरूप राजई।
सु तासु में प्रदेश अंशभेद क्यों विराजई।।

अखंड वस्तुमाहिं अंशकल्पना बनै नहीं।
करै सुशिष्य प्रश्न ताहि श्रीगुरु कहैं यही।।८०।।

उत्तर – दोहा

निरविभाग इक वस्तु में, अंश कल्पना होय।
नय विवहार अधारतैं, लगै न बाधा कोय।।८१।।

निजकरकी दो आंगुरी, नभ में देखी उठाव।
क्षेत्र दोउ को एक है, कै दो जुदे बताव।।८२।।

जो कहि है की एक है, तो कहु कौन अपेच्छ।
एक अखंड अकाश की, कै अंशनि के सेच्छ।।८३।।

जो कहि है नभपच्छ गहि, तब तौ सांची बात।
जो अशंनिकरि एक कहि, तब विरोध दरसात।।८४।।

इक अगुरी के छेत्र सों, दूजे सों नहि मेल।
अंश अपेच्छा इक कहें, यह [१]लरिकनि को खेल।।८५।।

जुदे जुदे जो अंश कहि, नभ अखंडता त्याग।
तौ प्रति अंश असंख नभ, चहियत तितौ विभाग।।८६।।

तातैं नय विवहारतैं, अंश कथा उर आन।
कारज विदित विलोकिकै, जिन आगम परमान।।८७।।

(१५) गाथा–१४१ तिर्यक्प्रचय तथा ऊर्ध्वप्रचय

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स।।१४१।।

अर्थात् द्रव्यों के एक, दो, बहुत से, असंख्य, अथवा अनन्त प्रदेश हैं। काल के 'समय' हैं।

१– बालकों का।

मनहरण

काल बिना बाकी पंच दर्वनि के परदेश,
ऐसे जैनवैन सों प्रतीति कीजियतु है।
एक तथा दोय वा अनेक विधि संख्या लियैं,
अथवा असंख तक चित दीजियतु है।।
ताके आगे अनंत प्रदेश लगु भेद वृन्द,
जथाजोग सबमें विचार लीजियतु है।
काल दर्व एक ही प्रदेशमात्र राजतु है,
ऐसो सरधान सुद्ध सुधा पीजियतु है।।८८।।

अकाश के अनंत प्रदेश हैं अचल तैसे,
धर्माधर्म दोऊ के असंख थिर थपा है।
एक जीव दर्व के असंख परदेश कहे,
सो तो घटैं बढ़ैं जथा देह दापैं ढपा है।।
एक पुग्गलानु है प्रदेश मात्र दर्व तऊ,
मिलन सुभाव सों बढ़ावैं वंश [१]अपा है।
संख्यासंख्य अनंत विभेद लगु ऐसें पंच,
दर्व के प्रदेश को अनादि नाप नपा है।।८९।।

दोहा

जिनके बहुत प्रदेश हैं, तिर्यकप्रचई सोय।
सो पांचों ही दरब में, व्यापत हैं भ्रम खोय।।९०।।

कालानू में मिलन की, शकति नाहिं तिस हेत।
तिर्यक [२]परचै के विषैं, गनती नाहिं करेत।।९१।।

समयनि के समुदाय को, [३]ऊरधपरचै नाम।
सो यह सब दरवनिविषैं, व्यापत है अभिराम।।९२।।

१- अपना। २- प्रचय-समूह। ३. ऊर्ध्वप्रचय।

काल दरव के निमिततैं, ऊरधपरचै होत।
ताहीतैं सब दरव को, परनत होत उदोत।।९३।।

पंचनि के ऊरध प्रपचय, काल दरवतैं जानु।
कोलमाहिं ऊरधप्रचय, निजाधार परमानु।।९४।।

[1]तीरक-परचै पांच में, निजप्रदेश सरवंग।
निजाधीन धारै सदा, जथाजोग बहुरंग।।९५।।

(१६) गाथा-१४२ काल पदार्थ का ऊर्ध्वप्रचय निरन्वय है, इसका खंडन

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एगसमयम्हि।
समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि।। १४२।।

अर्थात् यदि काल का एक समय में उत्पाद और विनाश पाया जाता है, तो वह भी काल स्वभाव में अवस्थित अर्थात् ध्रुव (सिद्ध) है।

माधवी

जिस काल समैकहँ एक समै,-
महँ वै उतपाद विराजि रहा है।
तब हू वह आपु सुभावविषैं,
समवस्थित है ध्रुवरूप गहा है।।
परजाय समै उपजै विनशै,
अनु पुग्गल की गति रीति [2]जहा है।
यह लच्छन काल पदारथ को,
सुविलच्छन श्रीगुरुदेव कहा है।।९६।।

दोहा

काल दरव को क्यों कहो, उपजनविनशनरूप।
समय परजही कों कहो, वयउतपादसरूप।।९७।।

---

१. तिर्यक् प्रचय। २- यथा।

ध्रौव दरव को छांडि के एकै समय मँझार।
उतपत धुव वय सधत नहिं, कीजै कोट विचार।।९८।।

उतपत अरु वय के विषैं, राजत विदित विरोध।
अंधकार परकाशवत, देखो निज घट शोध।।९९।।

तातैं कालानू दरव, ध्रौव गहोगे जब्ब।
निरावाध एकै समय, तीनों सधि हैं तव्व।।१००।।

छप्पय

जब पुग्गल परमानु, पुव्वकालानु त्याग करि।
अगिली पर वह गमन करत, गति मंद तासु धरि।।
समय कहावत सोय, तहां आधार दरव गहु।
तब तीनों निरबाध सधैं, इक समयमांहिं बहु।।
लखि निजकर अंगुरी वक्र करि, एक समय तीनों दिखैं।
उतपाद वक्र वय सरलता, ध्रुव अँगुरी दोनों विखैं।।१०१।।

(१७) गाथा–१४३ प्रत्येक समय में काल पदार्थ उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला है

एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो।।१४३।।

अर्थात् एक-एक समय में उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थ काल के सदा होते हैं। यही कालाणु का सद्भाव है; (यही कालाणु के अस्तित्व की सिद्धि है।)

मनहरण

एक ही समै में उतपाद ध्रुव वय नाम,
ऐसे तीनों अर्थनि को काल दर्व धारैं है।

निश्चैकरि यही सदभावरूप सत्ता लिये,
निजाधीन निराबाध वर्तत उचारैं है।।
जैसे एक समै में त्रिभेदरूप राजत है,
तैसे सर्वकाल सर्व कालानू पसारै है।
समै परजाय उतपाद वयरूप राजै,
दर्व की अपेच्छा ध्रुव धरम उदारै है।।१०२।।

(१८) गाथा–१४४ प्रत्येक कालाणु द्रव्य का एक प्रदेशमात्रपना

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो।।१४४।।

अर्थात् जिस पदार्थ के प्रदेश अथवा एकप्रदेश भी परमार्थतः ज्ञात नहीं होते, उस पदार्थ को शून्य जानो—जो कि अस्तित्व से अर्थान्तरभूत (अन्य) है।

वस्तु को सरूप असतित्व को निवासभूत,
सत्ता रसकूप को अधार परदेस है।
ऐसो परदेस जाके येकौ नाहिं पाइये तौ,
बिना परदेस कहो कैसो ताको भेस है।।
सो तो परतच्छ ही अवस्तु शून्यरूप भयौ,
कैसे करि जाने ताके सामान्य विशेस है।
अस्तिरूप वस्तु ही के होत उतपाद वय,
गुन परजायमाहिं ऐसो उपदेस है।।१०३।।

दोहा

जो प्रदेशतैं रहित है, सो तो भयो अवस्त।
ताके ध्रुव उतपाद वय, लोपित होत समस्त।।१०४।।

तातैं काल दरव गहो, अनुप्रदेश परमान।
तब तामें तीनों सधैं निराबाध परधान।।१०५।।

मनहरण

केई कहैं समय परजाय ही को दर्व कहो,
प्रदेशप्रमान कालअनू कहा करसै।
समै ही अनादि तैं निरंतर अनेक अंश,
परजायसेती उतपाद-पद परसै।।
तामे पुव्व को विनाश उत्तर को उतपाद,
पर्जपरंपरा सोई ध्रौव धारा वरसैं।
ऐसे तीनों भेद भले सधे परजाय ही में,
तासों स्यादवादी कहै यामें दोष दरसै।।१०६।।

गीता

जिस समय का है नाश तिसका, तो सरवथा नाश है।
जिस समय का उतपाद सो, भी सुतह विनशत जात है।
धुव कौन इनमें है जिसे, आधार धरि होवैं यही।
यों कहत छिनछायी दरव में, दोष लागैगो सही।।१०७।।

दोहा

तातैं कालानू दरव, ध्रौव गहोगे जब्ब।
निराबाध एकै समय, तीनों सधि हैं तव्व।।१०८।।

मदावलिप्तकपोल

काल दरव में जो प्रदेश को थापन कीना।
तो असंख कालानु, भिन्न मति कहो प्रवीना।।

कहो अखंड प्रदेश, लोकपरमान तासु कहँ।
ताहीतैं उतपन्न समय, परजाय कहो तहँ।।१०९।।

मनहरण

काल को अखंड मानें समय नाहिं सिद्ध होत,
समय परजाय तो तब ही उपजत है।
जबै कालअनू भिन्न भिन्न होंहिं सुभावतैं,
तहां पुग्गलानू जब चलै मंदगत है।।
एक को उलंघि जब दूजे कालअनू पर,
तामें जो विलंब लगै सोई संभै जत है।
अखंडप्रदेशी मानैं कैसे गतिरीति गनै,
कैसे करै काल को प्रमान कहु सत है।।११०।।

दोहा

तातैं कालानू दरव, भिन्न गहोगे जव्व।
निराबाध एकै समय, तीनों सधि हैं तव्व।।१११।।

काल अखंडित मानतैं, समय भेद मिटि जाय।
तथा सरव परदेशतैं, जगै समय परजाय।।११२।।

तथा काल के है नहीं, तिर्यक-परचै रूप।
एक यहू दूषन लगै, यों भाषी जिनभूप।।११३।।

काल असंख अनूहको, सुनो वरतना भेद।
प्रथमहिं एक प्रदेशतैं, वरततु है निरखेद।।११४।।

पुनि तसु आगे की अनू, तिनसों वर्तत सोय।
पुनि तसु आगे और सो, वर्तत है अनु जोय।।११५।।

असंख्यात अनु-रूपकरि, ऐसे वरतत नित्त।
काल दरव की वरतना, यों जिन भाषी मित्त।।११६।।

याके ऊरध ऊरधै, होहि समय परजाय।
सब दरवनि पर करत है, वर्त्तनमाहिं सहाय।।११७।।

कवित्त (३१ मात्रा)

तातैं तत्त्वारथ के मरमी, तिनको प्रथमहिं यह उपदेश।
कालदरव परदेशमात्र है, ध्रौवप्रमान रूप तसु भेश।।
नित्तभूत निरबाध असंखा, अनु अनमिलन सुभाव हमेश।
ताही की परजाय समय है, यों भाषी सरवज्ञ जिनेश।।११८।।

दोहा

मंगलमूल जिनिंद को, वंदों बारंबार।
जसु प्रसाद पूरन भयो, बड़ो ज्ञेय अधिकार।।११९।।

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत परमागम श्री प्रवचनसारजी ताकी वृन्दावनकृतभाषाविषैं विशेषज्ञेयाधिकार नामा पाँचमा अधिकार पूरा भया।

इहां ताईं सर्व गाथा १४६ और भाषा के छंद सर्व ५८१ पाँच सौ इक्यासी भये। सो समस्त जयवंत होहु। मिती मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठी ६ शुक्रवारे संवत् १९०५। काशीजी में वृन्दावन ने लिखो मूल प्रति। सो जयवंत होहु।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

अथ षष्ठ ज्ञेयतत्त्वान्तर्गत–व्यावहारिक–जीवद्रव्याधिकारः

मंगलाचरण – दोहा

श्रीमत तीरथनाथ नमि, सुमरि सारदा [1]संत।
जीवदरव को लिखत हों, विवहारिक विरतंत।।१।।

(१) गाथा–१४५ व्यवहार जीवत्व का हेतु

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काभिसंबद्धो।।१४५।।

अर्थात् सप्रदेश पदार्थों के द्वारा समाप्ति को प्राप्त सम्पूर्ण लोक नित्य है, उसे जो जानता है वह जीव है,—जो कि (संसार दशा में) चार प्राणों से संयुक्त है।

मनहरण

सहित प्रदेश सर्व दर्व जामें पूरि रहे,
ऐसो जो अकाश सो तो अनादि अनंत है।
[2]नित्त नूतन निराबाध अकृत अमिट,
अनरच्छित सुभाव सिद्ध सर्वगतिवंत है।।
तिस षटदर्वजुत लोक को जो जानत है,
सोई जीवदर्व जानो चेतनामहंत है।
वही चार प्रानजुत जगत में राजै वृन्द,
अनादि संबंध पुदगल को धरंत है।।२।।

१– साधु–मुनि। २– नित्य–अविनाशी।

दोहा

पंच दरव सब ज्ञेय हैं, ज्ञाता आतमराम।
सो अनादि चहु प्रान जुत, जग में कियो [१]मुकाम।।३।।

(२) गाथा-१४६ प्राण

इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते।।१४६।।

अर्थात् इन्द्रिय प्राण बल प्राण, आयुप्राण और श्वासोच्छ्वास प्राण; ये (चार) जीवों के प्राण हैं।

इन्द्रीवल तिमि आयु पुनि, सासउसासरु प्रान।
जीवनि के संसार में, होहिं सदीव प्रमान।।४।।

छप्पय

[२]फास जीभ नासिका, नैन श्रुति पंच [३]अच्छ गहु।
काय वचन मन सु बल, तीन परतीति मान यहु।।
आयु चार गति थिति, तथैव सासोउसास गनि।
ये दशहूं विवहार-प्रान, जग जीवनि के भनि।।
निहचैकरि सुख सत्ता तथा, अवबोधन चैतन्नता।
यह चार प्रान धारैं सदा, सहज सुभाव अभिन्नता।।५।।

(३) गाथा-१४७ प्राणों को जीवत्व हेतुत्व और पौद्गलित्व

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता।।१४७।।

१- स्थिति। २- स्पर्श। ३- अक्ष-इन्द्रियां।

अर्थात् जो चार प्राणों से, जीता है, जियेगा और पहले जीता था, वह जीव है। फिर भी प्राण तो पुद्गल द्रव्यों से निष्पन्न (रचित) हैं।

मत्तगयन्द

जो जग में निहचै करिके, धरि चार प्रकार के प्रान प्रधानो।
जीवतु है पुनि जीवन थौ, अरु आगे हु पै वही जीवे निदानो।।
सो वह जीव पदारथ है, चिनमूरति आनंदकंद सयानो।
औ [१]चहु प्रान कहे वह तो, उपजे सब पुग्गलतैं परमानो।।६।।

(४) गाथा–१४८ उनकी सिद्धि

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं।
उवभुंजं कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं।।१४८।।

अर्थात् मोहादिक कर्मों से बँधा हुआ होने से जीव प्राणों से संयुक्त होता हुआ कर्मफल को भोगता हुआ अन्य कर्मों से बँधता है।

मनहरण

अनादि तैं पुग्गल प्रसंग सों चिदंगजू के,
चढ्यो है कुढंग मोह रंग सरवंग है।
ताही कर्मबंधसों निबद्ध चार प्राननिसों,
कर्मनि को उदैफल भोगै बहुरंग है।।
तहां और नूतन करम को प्रबंध बधै,
जातैं मोह रागादि कुभाव को तरंग है।
ऐसे पुग्गलीक कर्म उदै जगजीवनि के,
पुग्गलीक कर्मबंध उदै को प्रसंग है।।७।।

१– चउ–चार।

दोहा

कारन के सादृश जगत, कारज होत प्रमान।
तातैं पुद्गल करम करि, पुदगल बँधत निदान।।८।।

(५) गाथा-१४९ उसे पौद्गलिक कर्म का कारणत्व

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं।।१४९।।

अर्थात् यदि जीव मोह और द्वेष के द्वारा जीवों के (स्वजीव के तथा परजीव के) प्राणों को बाधा पहुँचाते हैं, तो पूर्वकथित ज्ञानावरणादिक कर्मों के द्वारा बंध होता है।

द्रुमिला

जगजीव निरंतर मोहरु दोष, कुभाव विकारनि को करिकै।
परजीवनि के चहु प्राननि को, [१]विनिपात करैं [२]अदया धरिकै।।
तबही निहचै दृढ़ कर्मनिसों, प्रतिबंधित होहिं सुधा भरिकै।
जसु भेद हैं [३]ज्ञान-अवर्न को आदिक, यों लखिये भ्रम को हरिकै।।९।।

दोहा

मोहादि करि आपनो, करत अमलगुन घात।
ता पीछे परप्रान को, करत मूढ़ विनिपात।।१०।।

परप्राननि को घात तौ, होहु तथा मति होहु।
पै निज ज्ञान-प्रान तिन, निहचै घाते सोहु।।११।।

तब ज्ञानावरनादि तहँ, बँधैं करम दिढ़ आय।
प्रकृति प्रदेशनुभाग थिति, जथाजोग समुदाय।।१२।।

१- घात-नाश। २- निर्दयता-कठोरता। ३- ज्ञानावरणादि।

(६) गाथा-१५० प्राणों की संतति की प्रवृत्ति का अन्तरंग हेतु

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण चयदि जाव ममत्तिं देहपधाणेसु विसयेसु।।१५०।।

अर्थात् जब तक देहप्रधान विषयों में ममत्व को नहीं छोड़ता, तब तक कर्म से मलिन आत्मा पुनः-पुनः अन्य-अन्य प्राणों को धारण करता है।

मत्तगयन्द

कर्म महामल सों जग में, जगजीव मलीन रहै तब ताईं।
चार प्रकार के प्राननि को, वह धारत बार हि बार तहांई।।
जावत देह प्रधानविषैं, ममता-मति को नहिं त्याग कराई।
या विधि बंधविधान कथा, गुरुदेव जथारथ वृन्द बताई।।१३।।

दोहा

[1]जावत ममता भाव है, देहादिक के माहिं।
[2]तावत चार सुपान धरि, जगतमांहि भरमाहिं।।१४।।

तातैं ममताभाव को, करो सरवथा त्याग।
निज समतारस रंग में, वृन्दावन अनुराग।।१५।।

(७) गाथा-१५१ उनकी निवृत्ति का अन्तरंग हेतु

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रज्जदि किह तं पाणा अणुचरंति।।१५१।।

अर्थात् जो इन्द्रियादि का विजयी होकर उपयोगमात्र आत्मा का

१- यावत्-जब तक। २- तावत्-जब तक।

ध्यान करता है, वह अन्य कर्मों द्वारा रंजित नहीं होता; उसे प्राण कैसे अनुसरेंगे ? (अर्थात् उसके प्राणों का सम्बन्ध नहीं होता।)

मतगयन्द

जो भवि इन्द्रिय आदि विजैकरि, ध्यावत शुद्धपयोग अभंगा।
कर्मनिसों तजि राग रहै, निरलेप जथा जल [१]कंज प्रसंगा।।
[२]झांक-विहीन जथा फटिकप्रभ, त्यों उर जोत की वृन्द तरंगा।
क्यों मल प्रान बँधै वह तो, नित न्हात विशुद्ध सुभाविक गंगा।।१६।।

माधवी

अपने असतित्व सुभावविषैं, नित निश्चलरूप पदारथ जो है।
चिनमूरत आप अमूरत जीव, असंख प्रदेश धरै वह जो है।।
तिसके पर पुग्गल के परसंगतैं, सो परजाय अनेकनि हो है।
जसु [३]संहननौर अकार अनेक, प्रकार विभेद सुवेद भनो है।।१७।।

(८) गाथा-१५२ आत्माकी अत्यंत भिन्नता सिद्ध करने के लिये व्यवहार जीवत्व की हेतुभूत मनुष्यादि पर्यायों का स्वरूप

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्हि संभूदो।
अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं।।१५२।।

अर्थात् अस्तित्व से निश्चित अर्थ का (द्रव्य का) अन्य अर्थ में (द्रव्य में) उत्पन्न जो अर्थ (भाव) वह पर्याय है—कि जो संस्थानादि भेदों सहित होती है।

१- कमल। २- छायारहित। ३- संहनन-और।

मनहरण

संसार अवस्थामाहिं जीवनि के निश्चैकरि,
पुग्गलविपाकी नामकर्म उदै आयेतैं।
नर [१]नारकौर तिरजंच देवगति विषैं,
जथाजोग देह बनै परजाय पायेतैं।।
संसथान संहनन आदि बहु भेद जाके,
पुग्गलदरवकरि रचित बतायेतैं।
जैसैं एक आगि है अनेक रूप ईंधनतैं,
नानाकार तैसे तहां चेतन सुभायेतैं।।१८।।

(९) गाथा–१५३ अब पर्याय के भेद

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा।
पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स।।१५३।।

अर्थात् मनुष्य, नारक, तिर्यंच, और देव - ये नामकर्म के उदयादिक के कारण जीवों की पर्यायें हैं—जो कि संस्थानादि के द्वारा अन्य-अन्य प्रकार की होती हैं।

मत्तगयन्द

जे भवि भेदविज्ञान धरैं, सब दर्वनिको जुत भेद सुजानै।
जे अपनो सदभाव धरैं, निज भावविषैं थिर हैं पधरानै।।
द्रव्य गुनौ परजायमई, तिनको ध्रुव [२]वै उतपाद पिछानै।
सो परदर्वविषैं कबहूँ नहिं, मोहित होत सुबुद्धिनिधानै।।१९।।

मनहरण

जानै काललब्ध पाय दर्श मोह को खिपाय,
उपशमवाय वा सुश्रद्धा यों लहाही है।

१- नारक-और। २- व्यय-नाश।

मेरो चिदानंद को दरव गुन परजाय,
उतपाद वय ध्रुव सदा मेरे पाहीं है।।
और परदर्व सर्व निज निज सत्ता ही में,
कोऊ दर्व काहू को सुभाव न गहाही है।
तातैं जो प्रगट यह देह [१]खेह-खान दीसै,
सो तो मेरो रूप कहूं नाहीं नाहीं नाहीं है।।२०।।

(१०) गाथा-१५४ अब आत्मा की अन्य द्रव्य के साथ संयुक्तता होने पर भी अर्थ निश्चायक अस्तित्त्व के स्व-पर विभाग के हेतु रूप में समझाते हैं।

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं।
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि।।१५४।।

अर्थात् जो जीव उस (पूर्वोक्त) अस्तित्व -निष्पन्न, तीन प्रकार से कथित, भेदोंवाले द्रव्य-स्वभाव को जानता है, वह अन्य द्रव्य में मोह को प्राप्त नहीं होता।

द्रुमिला

उपयोगसरूप चिदातम सो, उपयोग [२]दुधा छवि छाजत है।
नित जानन देखन भेद लिये, सो शुभाशुभ होय विराजत है।।
तिनही करि कर्मप्रबंध बँधै, इमि श्री जिनकी धुनि गाजत है।
जब आपमें आपुहि बाजत है, तब [३]श्यौपुर नौबत बाजत है।।२१।।

(११) गाथा-१५५-१५६ आत्मा को अत्यन्त विभक्त करने के लिये परद्रव्य के संयोग के कारण का स्वरूप कहते हैं।

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि।।१५५।।

१- मल की खानि। २- द्विधा-दो प्रकार। ३- शिवपुर-मोक्ष।

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि।।१५६।।

अर्थात् आत्मा उपयोगात्मक है; उपयोग ज्ञान-दर्शन कहा गया है; और आत्मा का वह उपयोग शुभ अथवा अशुभ होता है।

उपयोग यदि शुभ हो तो जीव के पुण्य संचय को प्राप्त होता है और यदि अशुभ हो तो पाप संचय होता है। उनके (दोनों के) अभाव में संचय नहीं होता।

मनहरण

जब इस आतमा के पूजा दान शील तप,
संजम क्रियादिरूप शुभ उपयोग है।
तब शुभ आयु नाम गोत पुन्यवर्ग्गना को,
कर्मपिंड बँधै यह सहज नियोग है।।
अथवा मिथ्यातविषैं अव्रत कषायरूप,
अशुभोपयोग भये पाप को संजोग है।
दोऊ के अभावतैं विशुद्ध उपयोग वृन्द,
तहां बंध खंड के अखंड सुख भोग है।।२२।।

(१२) गाथा-१५७ शुभोपयोग का कथन

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स।।१५७।।

अर्थात् जिनेन्द्रों को जानता है, सिद्धों तथा अनागारों की (आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं की) श्रद्धा करता है, और जीवों के प्रति अनुकम्पायुक्त है, उसके वह शुभ उपयोग है।

मतगयन्द

जो जन श्री जिनदेव को जानत, प्रीति सों वृन्द तहाँ लव लावै।
सिद्धनि को निज ज्ञानतैं देखिकै, ध्यापक होय के ध्यान में ध्यावै।।
औ [1]अनगार गुरुनि में भक्ति, दया सब जीवनिमाहिं दिढ़ावै।
ताकहँ श्रीगुरुदेव बखानत, सो [2]शुभरूपपयोग कहावै।।२३।।

(१३) गाथा–१५८ अशुभोपयोग

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो।।१५८।।

अर्थात् जिसका उपयोग विषय-कषाय में अवगाढ़ (मग्न) है, कुश्रुति, कुविचार और कुसंगति में लगा हुआ है, उग्र है तथा उन्मार्ग में लगा हुआ है, उसका वह अशुभोपयोग है।

मनहरण

इंद्रिनि के विषै और क्रोधादि कषायनि में,
जाको परिनाम अवगाढ़ागाढ़ रुखिया।
मिथ्याशास्त्र सुनै सदा चित्त में कुभाव गुनै,
दुष्ट संग रंग को उमंग रस चुखिया।।
जीवनि के घातवे को जतन करत नित,
कुमारग चलिवे में उग्रमुख मुखिया।
ऐसो उपयोग सोई अशुभ कहावत है।
जाके उरबसै वह कैसे होय सुखिया।।२४।।

१– दिगम्बर। २– शुभोपयोग।

(१४) गाथा-१५९ अशुद्धोपयोग (शुभ-अशुभ) जो कि परद्रव्य के संयोग के कारण हैं, उनके विनाश का अभ्यास बताते हैं

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए।।१५९।।

अर्थात् अन्य द्रव्य में मध्यस्थ होता हुआ मैं अशुभोपयोग रहित होता हुआ तथा शुभोपयुक्त नहीं होता हुआ ज्ञानात्मक आत्मा को ध्याता हूँ।

मत्तगयन्द

मैं निज ज्ञानसरूप चिदातम, ताहि सुध्यावत हौं भ्रम टारी।
भाव शुभाशुभ बंधन के करन, तातैं तिन्हैं तजि दीनों बिचारी।।
होय मधस्थ विराजत हौं, परदर्व विषैं ममता परिहारी।
सो सुख क्यों मुखसों वरनौं, जो चखै सो लखै यह बात हमारी।।२५।।

दोहा

तातैं यह उपदेश अब, सुनो भविक बुधिवान।
[१]उद्दिम करि जिन वचन सुनि, ल्यों निजरूप पिछान।।२६।।

ताही को अनुभव करो, तजि प्रमाद उनमाद।
देखो तो तिहि अनुभवत, कैसो उपजत स्वाद।।२७।।

जाके स्वादत ही तुम्हें, मिलै अतुल सुख पर्म।
पुनि शिवपुर में जाहुगे, परिहरि अरि वसु कर्म।।२८।।

यही शुद्ध उपयोग है, जीवन-मोच्छसरूप।
यही मोखमग धर्म यहि, यहि शुद्धचिद्रूप।।२९।।

१- उद्यम।

(१५) गाथा-१६० शरीरादि परद्रव्य के प्रति भी मध्यस्थता

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं।।१६०।।

अर्थात् मैं न देह हूँ, न मन हूँ, और न वाणी हूँ; उनका कारण नहीं हूँ कर्ता नहीं हूँ, करानेवाला नहीं हूँ; (और) कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ।

मनहरण

मैं जो हों शुद्ध चिनमूरत दरव सो,
त्रिकाल में त्रिजोगरूप भयो नाहिं कबही।
तन मन [१]वैन ये प्रगट पुदगल यातैं,
मैं तो याको कारन हू बन्यौ नाहिं तब ही।।
तथा करतार और करावनहूहार नाहिं,
करता को अनुमोदक हूँ नाहिं जब ही।
ये अनादि पुग्गलकरमहीतैं होते आये,
ऐसी वृन्द जानी जिनवानी सुनी अब ही।।३०।।

(१६) गाथा-१६१ तन-वचन-मन का भी पुदगलत्व

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं।।१६१।।

अर्थात् देह, मन और वाणी पुद्गलद्रव्यात्मक हैं, ऐसा (वीतरागदेव ने) कहा है और वे पुद्गलद्रव्य परमाणुद्रव्यों का पिण्ड है।

तन मन वचन त्रिजोग है, पुदगलदरवसरूप।
ऐसें दयानिधान वर, दरसाई जिनभूप।।३१।।

१- वचन।

सो वह पुदगल दरब के, अविभागी परमानु।
तासु खंध को पिंड है, यों निहचै उर आनु।।३२।।

(१७) दोहा-१६२ आत्मा के पर का तथा पर के कर्तृत्व का अभाव

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स।।१६२।।

अर्थात् मैं पुद्गलमय नहीं हूँ और वे पुद्गल मेरे द्वारा पिण्डरूप नहीं किये गये हैं, इसलिए मैं देह नहीं हूँ, तथा उस देह का कर्ता नहीं हूँ।

मनहरण

मैं जो हों विशुद्ध चेतनत्वगुनधारी सो तो,
पुग्गल दरवरूप कभी नाहिं भासतो।
तथा देह पुग्गल को पिंड है [1]सुखंध बंध,
सोउ मैंने कीनों नाहिं निहचैं प्रकासतो।।
ये तो है अचेतन औ मूरतीक जड़ दर्व,
मेरो चिच्चमत्कार जोत है चकासतो।
तातैं मैं शरीर नाहिं करता हू ताको नाहिं,
मैं तो चिदानंद वृन्द अमूरत सासतो।।३३।।

(१८) गाथा-१६३ परमाणुओं मिलकर पिण्डरूप पर्याय

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुभवदि।।१६३।।

१- स्कंध-परमाणुओं का समूह।

अर्थात् परमाणु जो कि अप्रदेश है, प्रदेशमात्र है और स्वयं अशब्द है, वह स्निग्ध अथवा रूक्ष होता हुआ द्विप्रदेशादिपने का अनुभव करता है।

अप्रदेशी अनू परदेशपरमान दर्व,
सो तो स्वयमेव शब्द-[1]परजरहत है।
तामैं चिकनाई वा रुखाई परिनाम बसै,
सोई बंध जोग भाव तासमें कहत है।।
ताही सेती दोय आदि अनेक प्रदेशनि की,
दशा को बढ़ावत सुपावत महत है।
ऐसे पुदगल को सुपिण्डरूप खंध बँधै,
यासों चिदानंदकंद जुदोई लहत है।।३४।।

दोहा

अविभागी परमानु वह, शुद्ध दरव है सोय।
वरनादिक गुन पंच तो, सदा धरैं ही होय।।३५।।

एक वरन इक गंध इक, रस दो [2]फासमँझार।
अन्तर भेदनि में धरे, श्रुति लखि लेहु विचार।।३६।।

(१९) गाथा-१६४ परमाणु के स्निग्ध-रूक्षत्व कैसा

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि।।१६४।।

अर्थात् परमाणु के परिणमन के कारण एक से (एक अविभाग प्रतिच्छेद से) लेकर एक-एक बढ़ते हुए जब तक अनन्तपने को

१- पर्याय-रहित। २- स्पर्श में।

(अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदपने को) प्राप्त हो तब तक स्निगधत्व अथवा रूक्षत्व होता है ऐसा (जिनेन्द्र देव ने) कहा है।

मनहरण

[१]पुग्गलअनू में चिकनाई वा रुखाई भाव,
एक अंशतैं लगाय भाषे भेदरास है।
एकै एक बढ़त अनंत लौं विभेद बढ़ै,
जातैं परिनाम की शकति ताके पास है।।
जैसे छेरी गाय भैंस ऊंटनी के दूध घृत,
तामें चिकनाई वृद्धि क्रमतैं प्रकास है।
धूलि [२]राख रेत की रुखाई में विभेद जैसे,
तैसे दोनों भाव में अनंत भेद भास है।।३७।।

(२०) गाथा–१६५ स्निग्धत्व, रूक्षत्व से पिण्डता कारण।

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झंति हि आदिपरिहीणा।।१६५।।

अर्थात् परमाणु-परिणाम, स्निग्ध हों या रूक्ष हों सम अंशवाले हों या विषम अंशवाले हों यदि समान से दो अधिक अंशवाले हों तो बँधते हैं, जघन्यांशवाले नहीं बँधते।

मनहरण

पुग्गल की अनू चीकनाई वा रुखाईरूप,
आपने सुभाव परिनाम होय [३]परनी।
अंशनि की संख्या तामें सम वा विषम होय,
दोय अंश बाढ़ ही सों बंधजोग वरनी।।

१- पुद्गलाणु में। २- भस्म। ३- परिणमन किया, परिनमी।

एक अंश घटे बढ़े बँधत कदापि नाहिं,
ऐसो नेम निहचै प्रतीति उर धरनी।
चीकन रुखाई अनुसंध हू बँधत ऐसे,
आगमप्रमानतैं प्रमान वृन्द करनी।।३८।।

दोहा

दोय चार षट आठ दश, इत्यादिक सम जान।
तीन पांच पुनि सात नव, यह क्रम विषम बखान।।३९।।

चीकनताई की अनू, सम अंशनि परमान।
दोय अधिक होतें बंधै, यह प्रतीत उर आन।।४०।।

[1]रुच्छ भाव की जे अनू, ते विषमंश प्रधान।
दोय अधिकतैं बँधत हैं, ऐसें लखो सयान।।४१।।

अथवा चीकन रूक्ष को, बंध परस्पर होय।
दोय अंश की अधिकता, जोग मिलै जब सोय।।४२।।

एक अनू इक अंशजुत, दुतिय तीनजुत होय।
जदपि जोग है बंध के, तदपि बंधै नहिं सोय।।४३।।

एक अंश अति जघन है, सो नहिं बंधै कदाप।
नेमरूप यह कथन है, श्रीजिन भाषी आप।।४४।।

(२१) गाथा–१६६ वही नियम

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो।।१६६।।

अर्थात् स्निग्धरूप से दो अंशवाला परमाणु चार अंशवाले स्निग्ध

१– रूक्ष।

(अथवा रूक्ष) परमाणु के साथ बंध का अनुभव करता है। अथवा रूक्षरूप से तीन अंशवाला परमाणु पाँच अंशवाले के साथ युक्त होता हुआ बँधता है।

मनहरण

चीकन सुभाव दोय अंश परनई अनू,
ताको बंध चार अंशवाली ही सों होत है।
और जो रुखाई तीन अंश अनू धारे होय,
पंच अंशवाली सेती बाको बंध होत है।।
ऐसे ही अनंत लगु भेद सम विषम के,
दोय अंश अधिकतैं बंध को उदोत है।
रुच्छचीकनीहू बँधै खंधहूसों खंध बँधै,
याही रीति सेती लखै ज्ञानी ज्ञान जोत है।।४५।।

दोहा

चीकन की सम अंशतैं, विषम अंशतैं रुच्छ।
दोय अधिक होतें बँधैं, पुग्गलानु के गुच्छ।।४६।।

चीकनता गुन की अनू, पाँच अंशजुत जौन।
सात अंश चीकन मिलै, बंध होतु है तौन।।४७।।

चार अंशजुत रुच्छसों, षट जुतसों बँध जात।
यही भांति अनंत लगु, जानों भेद विख्यात।।४८।।

दोय अनू अंशनि गिनैं, होहिं बराबर जेह।
ताको बँध बँधै नहीं, यों जिनबैन भनेह।।४९।।

(२२) गाथा–१६७ आत्मा का उनका कर्तापना का अभाव है।

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते।।१६७।।

अर्थात् द्विप्रदेशादिक (दो से लेकर अनन्त प्रदेशवाले) स्कंध जो कि सूक्ष्म अथवा बादर होते हैं और संस्थानों (आकारों) सहित होते हैं वे —पृथ्वी, जल, तेज और वायुरूप अपने परिणामों से होते हैं।

छप्पय

दो प्रदेश आदिक अनंत, परमानु खंध लग।
सूच्छिम बादररूप, जिते आकार धरे जग।।
तथा अवनि जल अनल, अनिल परजाय विविधगन।
ते सब [१]निग्ध रु रुच्छ, सुभावहितैं उपजे भन।।
यह पुदगलदरवरचित सरव, पुग्गल करता जानिये।
चिनमूरति यातैं भिन्न है, ताहि तुरित पहिचानिये।।५०।।

(२३) गाथा–१६८ आत्मा उसको लानेवाला भी नहीं है।

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहि बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं।।१६८।।

अर्थात् लोक सर्वतः सूक्ष्म तथा बादर और कर्मत्व के अयोग्य तथा कर्मत्व के योग्य पुद्गल स्कन्धों के द्वारा (विशिष्ट प्रकार से) अवगाहित होकर गाढ़ (–घनिष्ट) भरा हुआ है।

मनहरण

लोकाकाश के असंख प्रदेश प्रदेश प्रति,
कारमानवर्गना भरी है पुदगल की।

१– स्निग्ध–चिकना।

सूच्छिम और बादर अनंतानंत सर्वठौर,
अति अवगाढ़ागाढ़ संधिमाहिं झलकी।।
आठ कर्मरूप परिनमन सुभाव लियैं,
आतमा के गहन करन जोग बल की।
तेईस विकार उपयोग को सँजोग पाय,
कर्मपिंड होय बंधै रहै संग ललकी।।५१।।

दोहा

तातैं पुदगल करम को, आतम करता नाहिं।
भूल भावतैं जीवकै, करम धूलि लपटाहिं।।५२।।

(२४) गाथा–१६९ आत्मा उसे कर्मरूप नहिं करता

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा।।१६९।।

अर्थात् कर्मत्व के योग्य स्कंध जीव की परिणति को प्राप्त करके कर्मभाव को प्राप्त होते हैं; जीव उनको नहीं परिणमाता।

मनहरण

कर्मरूप होन की सुभावशक्ति जामैं वसै,
ऐसे जे जगत माहिं पुग्गल के खंध हैं।
तेई जब जगतनिवासी जग जीवनि के,
परिनाम अशुद्ध को पावैं सनबंध हैं।।
तबै ताईं काल कर्मरूप परिनवैं सोई,
ऐसौ वृन्द अनादि तैं चलो आवै धंध है।
ते वै कर्मपिंड आतमा ने प्रनवाये नाहिं,
पुग्गल के खंध ही सों पुग्गल को बंध है।।५३।।

(२५) गाथा–१७० शरीर का कर्ता आत्मा नहीं है

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा।।१७०।।

अर्थात् कर्मरूप परिणत वे-वे पुद्गलपिण्ड देहान्तररूप परिवर्तन को प्राप्त करके पुनः पुनः जीव के शरीर होते हैं।

जे जे दर्वकर्म परिनये रहे पुग्गल के,
कारमानवर्गना सुशक्ति गुप्त धरि के।
तेई फेर जीव के शरीराकार होहि सब,
देहांतर जोग पाये शक्त व्यक्त करिके।।
जैसे वटबीज में सुभाव शक्ति वृच्छ की सो,
वटाकार होत वही शक्ति को उछरिके।
ऐसे दर्वकर्म बीजरूप लखो वृन्दावन,
ताही को सुफल देह जानों भर्म हरिके।।५४।।

(२६) गाथा–१७१ आत्मा के शरीर का अभाव है

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजसिओ।
आहारय कम्मइओ पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे।।१७१।।

अर्थात् औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, तैजस शरीर, आहारक शरीर और कार्मण शरीर—सब पुद्गलद्रव्यात्मक हैं।

औदारिक देह जो विराजै [१]नरतीरक के,
नानाभांति तासके अकारकी है रचना।
तथा [२]वैयक्रीयक शरीर देवनारकी के,
जथाजोग ताहू के अकारकी है रचना।।

१- नर-तिर्यंच के। २- वैक्रियक।

तैजस शरीर जो शुभाशुभ विभेद औ,
अहारक तथैव कारमान की विरचना।
ये तो सर्व पुग्गल दरव के बने हैं पिंड,
यातैं चिदानंद भिन्न ताहीसों परचना।।५५।।

(५७) गाथा-१७२ जीव का असाधारण स्वलक्षण जो परद्रव्यों से विभाग का साधन है वह क्या है? चेतनालक्षणवाली अलिंग-ग्रहण की गाथा।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।१७२।।

अर्थात् जीव को अरस, अरूप अगंध, अव्यक्त, चेतनागुणयुक्त, अशब्द, अलिंगग्रहण (लिंग द्वारा ग्रहण न होने योग्य) और जिसका कोई संस्थान नहीं कहा गया है, ऐसा जानो।

अहो भव्यजीव तुम आतमा को ऐसो जानो,
जाके रस रूप गंध फास नाहिं पाइये।
शब्द परजाय सों रहित नित राजत है,
अलिंगग्रहन निराकार दरसाइये।।
चेतना सुभाव ही में राजै तिहूँ काल सदा,
आनंद को कंद जगवंद वृन्द ध्याइये।
भेदज्ञान नैनतैं निहारिये जतनही सों,
ताके अनुभव रस ही में झर लाइये।।५६।।

दोहा

शब्द अलिंगग्गहन गुरु, लिख्यौ जु गाथामाहिं।
कछुक अरथ तसु लिखत हों, जुगतागम की छांहिं।।५७।।

चौपाई

चिह्न सुपुदगल के हैं जिते। फरस रूप रस गंध जु तिते।
तिन करि तासु लखिय नहिं चिह्न। याहू तैं सु अलिंगग्गहन।।५८।।

अथवा तीन लिंग जगमाहिं। नारि नपुंसक नर ठहराहिं।
ताहू करि न लखिय तसु चिह्न। याहू तैं सु अलिंगग्गहन।।५९।।

अथवा लिंग जु इंद्रिय पंच। ताहू करि न लखिय तिहि रंच।
अति इंद्रियकरि जानन सहन। यहू तैं सु अलिंगग्गहन।।६०।।

अथवा इंद्रियजनित जु ज्ञान। ताकरि है न प्रतच्छ प्रमान।
की है आतम को यह चिह्न। याहू तैं सु अलिंगग्गहन।।६१।।

अथवा लिंग नाम यह जुप्त। लच्छन प्रगट लच्छ जसु गुप्त।
धूम अग्नि जिमि तिमि नहिं चिह्न। याहू तैं सु अलिंगग्गहन।।६२।।

अथवा अनमती बहु बकैं। दोषसहित लच्छन अन तकैं।
ताहूकरि न लखिय तसु चिह्न। याहू तैं सु अलिंगग्गहन।।६३।।

इत्यादिक बहु अरथविधान। शब्द अलिंगगहन को जान।
सो विशाल टीका तैं देखि। पंडित मन में दियौ विशेखि।।६४।।

यह चेतन चिद्रूप अनूप। शुद्ध सुभाव सुधारसकूप।
स्वसंवेदनहिकरि सो गम्य। लखहिं अनुभवी समरसरम्य।।६५।।

शब्दब्रह्म को पाय सहाय। करि उद्दिम मन-वचन-काय।
काललब्धि को लहि संजोग। पावैं निकट भव्य ही लोग।।६६।।

तातैं गुन अनंत को धाम। वचन अगोचर आतमराम।
वृन्दावन उर नयन उधारि। देखो ज्ञानज्योति अविकारी।।६७।।

(२८) गाथा-१७३ आत्मा के अमूर्त-मूर्त का अभाव है तो बंध कैसे?

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं।।१७३।।

अर्थात् मूर्त (ऐसे पुद्गल) तो रूपादिगुणयुक्त होने से परस्पर (बन्धयोग्य) स्पर्शों से बँधते हैं; (परन्तु) उससे विपरीत (अमूर्त) ऐसा आत्मा पौद्गलिक कर्म को कैसे बाँधता है?

मनहरण

मूरतीक रूप आदि गुन को धरैया यह,
पुग्गल दरवसों फरस आदिवान सों।
आपुस में बंधै नाना भांति परमानू खंध,
सो तो हम जानी सरधानी परमानसों।।
तासों विपरीत जो अमूरत चिदातमा सो,
कैसे बँधै पुग्गल दरव मूर्तिमान सों।
यह तौ अचंभौ मोहि ऐसो प्रतिभासै वृन्द,
अमल मिलाप ज्यों 'नितंब जुतैं कानसों'।।६८।।

(२९) गाथा-१७४ आत्मा के अमूर्तत्व होने पर भी इस प्रकार बंध होता है।

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि।।१७४।।

अर्थात् जैसे रूपादिरहित (जीव) रूपादि को-द्रव्यों को तथा गुणों को (रूपी द्रव्यों को और उनके गुणों को)-देखता है और जानता है उसी प्रकार उसके साथ (अरूपी का रूपी के साथ) बन्ध जानो।

रूपादिक जे हैं मूरतीक गुन पुग्गल के,
तिनसों रहित जीव सर्वथा प्रमानसों।
ऐसो है तथापि वह शून्यरूप होत नाहिं,
आपनी सो सत्ता में विराजै परधान सों।।
सर्व दर्व सदा निज दर्वित आकार धरे,
काहू को आकार कभी मिलै नाहिं आनसों।
तैसे ही अरूपी चिदाकार वृन्द आतमा है,
ताके अब सुनो जैसे बँधत विधान सौ।।६९।।

रूपी दर्व घटपट आदिक अनेक तथा,
ताके गुनपरजाय विविध वितानसों।
तिनको अरूपी जीव देखै जानै भलीभांत,
यह तो अबाध सिद्ध प्रतच्छ प्रमानसों।।
जो न होत अस्तरूप वस्तु यह आतमा तौ,
कैसे ताहि देखतौ औ जानतौ महानसों।
तैसे ताके बंध को विधान हू सुजानौ वृन्द,
समिल मिलाप ज्यों 'शबद जुरैं कानसों'।।७०।।

दोहा

देखन जानन की शकति, जो न जीवमहँ होत।
तब किहि विधि संसार में, बँधन होत उदोत।।७१।।

मोह राग रूप भावकरि, देखत जानत जीव।
ताही भाव विकार सों, आपु हि बँधत सदीव।।७२।।

राग चिकनताई मई, दोष रुच्छता भाय।
याही के सुनिमित्त तैं, पुदगलकरम बँधाय।।७३।।

आतम के परदेश प्रति, दर्वित कर्म अनाद।
तिनसों नूतन करम को, बंध परत निरवाद।।७४।।

यह विवहारिक बंधविधि, निहचैं बंध न सोय।
जहँ अशुद्ध उपयोग है, मोह त्रिकंटक जोय।।७५।।

मनहरण

जैसे ग्वालबालनन बैल सांचे माटीनिकै,
देखि जानि तिन्हें अपनाये राग जोर सों।
तिनके निकट कोऊ मारैं छोरै बैलनिको,
तवै ते अधीर होय रोवैं धोवैं शोर सों।।
तहाँ अब करो तो विचार भेदज्ञानी वृन्द,
बंधे वे वयल सोकी ममता की डोर सों।
तैसें पुद्गल कर्म बाहिज निमित्त जानो,
बंध्यौ जीव निहचै अशुद्धता-मरोर सों।।७६।।

(३०) गाथा-१७५ भावबन्ध का स्वरूप

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं सो बंधो।।१७५।।

अर्थात् जो उपयोगमय जीव विविध विषयों को प्राप्त करके मोह करता है, राग करता है, अथवा द्वेष करता है, वह जीव उनके द्वारा (मोह-राग-द्वेष के द्वारा) बन्धरूप है।

माधवी

उपयोगसरूप चिदातम सो, इन इन्द्रिनि की सतसंगति पाई।
बहु भाँति के इष्ट अनिष्ट विषैं, तिनको तित जोग मिलैं जब आई।।
तब राग रु दोष विमोह विभावनि, -सों तिनमें प्रनवै लपटाई।
तिनही करि फेरि बंधै तहँ आपु, यों भाविकबंध की रीति बताई।।७७।।

(३१) गाथा–१७६ भावबन्ध की युक्ति और द्रव्यबन्ध

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो।।१७६।।

अर्थात् जीव जिस भाव से विषयागत पदार्थ को देखता है और जानता है, उसी से उपरक्त होता है; और उसी से कर्म बँधता है – ऐसा उपदेश है।

मनहरण

रागादि विभावनि में जौन भावकरि जीव,
देखै जानै इन्द्रिनि के विषय जे आये हैं।
ताही भावनि सों तामें तदाकार होय रमै,
तासों फेरी बँधै यही भावबंध भाये हैं।।
सोई भावबंध मानों चीकन रुखाई भयो,
ताही के निमित्त सेती दर्वबंध गाये हैं।
जामें आठ कर्मरूप कारमानवर्गना है,
ऐसे सरर्वज्ञ भनि वृन्द को बताये हैं।।७८।।

(३२) गाथा–१७७ बन्ध के तीन प्रकार

फासेहिं पोग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णमवगाहो पोग्गलजीवप्पगो भणिदो।।१७७।।

अर्थात् स्पर्शों के साथ पुद्गलों का बन्ध, रागादि के साथ जीव का बन्ध और अन्योन्य अवगाह वह पुद्गलजीवात्मक बन्ध कहा गया है।

पुव्वबंध पुग्गलसों फरस विभेद करि,
नयो कर्मवर्गना के पिण्ड को गथन है।

जीव के अशुद्ध उपयोग राग आदि करि,
होत मोह रागादि विभाव को नथन है।।
दोऊ को परस्पर सँजोग एक थान सोई,
जीव पुग्गलातम के बंध को कथन है।
ऐसे तीन बंधभेद वेद में निवेद वृन्द,
भेदज्ञानीजनित सिद्धांत को मथन है।।७९।।

(३३) गाथा–१७८ द्रव्यबन्ध के हेतु भावबन्ध

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पोग्गला काया।
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति य जंति बज्झंति।।१७८।।

अर्थात् वह आत्मा सप्रदेश है; उन प्रदेशों में पुद्गलसमूह प्रवेश करते हैं, यथायोग्य रहते हैं, जाते हैं, और बँधते हैं।

मनहरण

असंख्यात प्रदेश प्रमान यह आतमा सो,
ताके परदेश विषैं ऐसे उर आनिये।
पुग्गलीक कारमान वर्ग्गना को पिण्ड आय,
करत प्रवेश जथाजोग सरधानिये।।
फेरि एक छेत्र अवगाहकरि बंधत है,
थिति परमान संग रहैं ते सुजानिये।
देय निज रस खिर जाहिं पुनि आपुहि सों,
ऐसो भेद भर्म छेद भव्य वृन्द मानिये।।८०।।

दोहा

कायवचनमन जोगकरि, जो आतम परदेश।
कंपरूप होवैं तहां, जोग बंध कहि तेस।।८१।।

तासु निमित्ततैं आवही, करमवरगना खंध।
सो ईर्यापथ नाम कहि, प्रकृति प्रदेश सुबंध।।८२।।

राग विरोध विमोह के, जैसे भाव रहाहिं।
ताहि के अनुसारतैं, थिति अनुभाग बँधाहिं।।८३।।

(३४) गाथा–१७९ राग परिणाम मात्र जो भावबन्ध है सो द्रव्य बन्ध का हेतु होने से वही निश्चय बन्ध है

रत्तो बंधदि कम्मं मुञ्चदिकम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो।। १७९।।

अर्थात् रागी आत्मा कर्म बाँधता है, रागरहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है – यह जीवों के बन्ध का संक्षेप निश्चय से जानो।

द्रुमिला

परदर्व विषैं अनुराग धरै, वसु कर्मनि को सोह बंध करै।
अरु जो जिय रागविकार तजै, वह मुक्तवधू कहँ वेगि बरै।।
यह बन्ध रु मोच्छसरूप जथारथ, थोरहि में निरधार धरै।
निहचै करि के जगजीवनि के, तुम जानहु वृन्द प्रतीत भरै।।८४।।

चौपाई

रागभाव प्रनवैं जे आंधे। नूतन दरव करम ते बाँधे।
वीतरागपद जो भवि परसै। ताको मुक्त अवस्था सरसै।।८५।।

दोहा

रागादिक को त्यागि जे, वीतराग हो जाहँ।
चले जाहिं वैकुंठ में, कोह न पकरै बाहँ।।८६।।

(३५) गाथा-१८० राग-द्वेष-मोह युक्त परिणाम से बन्ध है। राग शुभ या अशुभ होता है।

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो।। १८०।।

अर्थात् परिणाम से बन्ध है, (जो) परिणाम राग-द्वेष-मोहयुक्त है। (उनमें से) मोह और द्वेष अशुभ है, राग शुभ अथवा अशुभ होता है।

मनहरण

परिनाम अशुद्धतैं पुग्गलकरम बंधै,
सोई परिनाम रागदोषमोहमई है।
तामें मोह दोष तो अशुभ ही है सदा काल,
राग में दुभेद वृन्द वदे वरनई है।।
पंच परमेश्वर की भक्ति धरमानुराग,
यह शुभराग भाव कथंचित लई है।
विषय कषायादिक तामें रतिरूप सो,
अशुभ राग सरवथा त्यागजोग तई है।।८७।।

(३६) गाथा-१८१ शुभाशुभ परिणाम के रहित पर के प्रति प्रवृत्ति नहीं होती ऐसा परिणाम शुद्ध होने से कर्म क्षयरूप मोक्ष है।

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणिदमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये।। १८१।।

अर्थात् पर के प्रति शुभ परिणाम पुण्य है, और अशुभ परिणाम पाप है, ऐसा कहा है; जो दूसरे के प्रति प्रवर्तमान नहीं है - ऐसा परिणाम समय पर दुःखक्षय का कारण है।

परवस्तुमांहिं जो पुनीत परिनाम होत,
ताको पुन्य नाम वृन्द जानो हुलसंत है।
तैसे ही अशुभ परिनाम परवस्तुविषैं,
ताको नाम पाप संकलेशरूप तंत है।।
जहाँ परवस्तुविषैं दोऊ परिनाम नहिं,
केवल सुसत्ता ही में शुद्ध वरतंत है।
सोई परिनाम सब दुःख के विनाशन को,
कारन है ऐसे जिन शासन भनंत है।।८८।।

चौपाई

पर परनति तैं रहित विचच्छन। सकल दुःख खयकारन लच्छन।
मोच्छवृच्छतरुवीज विलच्छन। शुद्धपयोग गहैं शिवगच्छन।।८९।।

(३७) गाथा-१८२ स्वाश्रय की प्रवृत्ति और पराश्रय की निवृत्ति की सिद्धि के लिये स्वपर का विभाग बतलाते हैं।

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो।। १८२।।

अर्थात् अब स्थावर और त्रस ऐसे जो पृथ्वी आदि, जीवनिकाय कहे गये हैं, वे जीव से अन्य हैं, और जीव भी उनसे अन्य है।

मतगयन्द

थावर जीव निकायनिके, पृथिवी प्रमुखादिक भेद घने हैं।
औ त्रसरासि निवासिनके, तन के कितनेक न भेद बने हैं।।
सो सब पुग्गलदर्वमई, चिनमूरति तैं सब भिन्न ठने हैं।
चेतन हू तिन देहनितैं, निहचै करि भिन्न जिनिंद भने हैं।।९०।।

(३८) दोहा-१८३ वैसा ही सम्यक्ज्ञान और मिथ्याज्ञानरूप अज्ञान।

जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेञ्ज।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो।।१८३।।

अर्थात् जो इस प्रकार स्वभाव को प्राप्त करके (जीव-पुद्गल के स्वभाव को निश्चित करके) पर को और स्व को नहीं जानता, वह मोह से 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस प्रकार अध्यवसान करता है।

जो जन या परकारकरी, जिन और पर को नहिं जानत नीके।
आपसरूप चिदानँद वृन्द, तिसे न गहै मदमोह वमीके।।
सो नित मैं तनरूप तथा, तन है हमरो इमि मानत ठीके।
भूरि भवावलिमाहिं भमै, निहचै वह मोह महामद पीके।।९१।।

(३९) गाथा-१८४ आत्मा का कर्म क्या है?

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।। १८४।।

अर्थात् अपने भाव को करता हुआ आत्मा वास्तव में अपने भाव का कर्ता है; परन्तु पुद्गलद्रव्यमय सर्व भावों का कर्ता नहीं है।

मनहरण

आतमा दरव निज चेतन सुपरिनाम,
ताही को करत सदा ताही में रमत है।
आपने सुभाव ही को करता है निहचै सो,
निजाधीन भाव भूमिका ही में गमत है।।
पुग्गलदरवमई जेते हैं प्रपंच संच,
देहादिक तिनको अकरता समत है।

ऐसो भेद भेदज्ञान नैनतैं विलोको वृन्द,
याही बिना जीव भव भाँवरी भमत है।।९२।।

(४०) गाथा-१८५ पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म क्यों नहीं?

गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि।
जीवो पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु।। १८५।।

अर्थात् जीव सभी कालों में पुद्गल के मध्य में रहता हुआ भी पौद्गलिक कर्मों को वास्तव में न तो ग्रहण करता है, न छोड़ता है, और न करता है।

द्रुमिला

यह जीव पदारथ की महिमा, जग में निरखो भ्रम को हरि के।
मधि पुग्गल के परिवर्ततु है, सब कालविषैं निहचै करि के।।
तब हू तिन पुग्गल कर्मनि को, न गहै न तजै न करै धरि के।
वह आपुहि आप सुभाव हि तैं, प्रनवैं सतसंगति में परि के।।९३।।

(४१) गाथा-१८६ पुद्गलों को आत्मा यदि कर्मरूप परिणमित नहीं करता तो आत्मा जड़ कर्मों के द्वारा कैसे ग्रहण या त्यागरूप किया जाता?

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स।
आदीयदे कदाइं विमुच्चदे कम्मधूलीहिं।। १८६।।

अर्थात् वह अभी (संसारावस्था में) द्रव्य से (आत्मद्रव्य से) उत्पन्न होनेवाले (अशुद्ध) स्वपरिणाम का कर्ता होता हुआ कर्मरज से ग्रहण किया जाता है और कदाचित् छोड़ा जाता है।

मनहरण

सोई जीवदर्व अब संसार अवस्थामांहि,
अशुद्ध चेतना जो विभाव की ढरनि है।
ताही को बन्यौ है करतार ताके निमित सों,
याके आठ कर्मरूप धूलि की धरनि है।।
सोई कर्म धूल मूल भूल को सुफल देहि,
फेरी काहू कालमाहिं तिनकी करनि है।
ऐसे बंधजोग भाव आपनो विभाव जानि,
त्यागै भेदज्ञानी जासों संसृत तरनि है।।९४।।

(४२) गाथा-१८७ पुद्गलकर्मों की विचित्रता का (ज्ञानावरणीय आदिरूप) कर्ता कौन?

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं।। १८७।।

अर्थात् जब आत्मा रागद्वेषयुक्त होता हुआ शुभ और अशुभ में परिणमित होता है, तब कर्मरज ज्ञानावरणादिरूप से उसमें प्रवेश करती है।

जबै जीव राग-दोष समल विभावजुत,
शुभाशुभरूप परिनाम को ठटत है।
तबै ज्ञानावरनादि कर्मरूप परज याके,
जोग द्वार आयकै प्रदेश पै पटत है।।
जेसे रितु पावस में धाराधार धारनितैं
धरनि में नूतन अंकुरादि अटत है।
तैसे ही शुभाशुभ अशुद्ध रागदोषनितैं,
पुग्गलीक नयौ कर्म बंधन वटत है।।९५।।

दोहा

तातैं पुदगल दरव ही, निज सुभावतें मीत।
अति विचित्रगति कर्म को, कर्ता होत प्रतीत।।९६।।

(४३) गाथा-१८८ अकेला आत्मा ही बंध है

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये।। १८८।।

अर्थात् प्रदेशयुक्त वह आत्मा यथा काल मोह-राग-द्वेष के द्वारा कषायित होने से कर्मरज से लिप्त या बद्ध होता हुआ 'बन्ध' कहा गया है।

सो असंख प्रदेश प्रमान जगजीवनि के,
मोह राग दोष ये कषायभाव संग है।
ताही तैं करमरूप रजकरि बँधै ऐसे,
सिद्धांत में कही वृन्द बंध की प्रसंग है।।
जैसे पट लोध फटकड़ी आदि तैं कसैलो,
चढ़त मजीठ रंग तापै सरवंग है।
तैसे चिदानंद के असंख परदेश पर,
चढ़त कषाय तैं करम रज रंग है।।९७।।

(४४) गाथा-१८९ निश्चय-व्यवहार का अविरोध

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो।। १८९।।

अर्थात् यह (पूर्वोक्त प्रकार से), जीवों के बन्ध का संक्षेप निश्चय से अरहन्त भगवान ने यतियों से कहा है; व्यवहार अन्य प्रकार से कहा है।

मनहरण

बंध को कथन यह थोरे में गथन निहचै,
मथनकरि ज्ञान तुला में तुलतु है।
जीवनि के होत सो दिखाई जिनराज मुनि,
मंडली को जानैं उरलोचन खुलतु है।।
यासों विपरीत जो है पुद्गलीक कर्मबंध,
सो है विवहार वृन्द काहे को भुलतु है।
निज-निज भाव ही के करता सरव दर्व,
यही भूले जीव कर्मझूलना झुलतु है।।९८।।

पुण्य-पापरूप परिनाम जो हैं आतमा के,
रागादि सहित ताको आपु ही है करता।
तिन परिनामनिकों आप ही गहन करै,
आपु ही जतन करै ऐसी रीति धरता।।
तातैं इस कथन को कथंचित शुद्ध दरवारयीक
नय ऐसे भनी भर्महरता।।
पुग्गलीक दर्व कर्म को है करतार सो,
अशुद्ध विवहार नयद्वारतैं उचरता।।९९।।

प्रश्न - छप्पय

रागादिक परिनाम बंध, निहचै तुम गाये।
फेरि शुद्ध दरवारथीक नय, विषय बताये।।
पुनि सो गहने जोग, कहत हौ हे मुनिराई।
वह रागादि अशुद्ध, दरव को करत सदाई।।
यह तो कथनी नहिं संभवत, क्यों अशुद्ध हो गाहिये।
याको उत्तर अब देय के, संशय मैटो चाहिये।।१००।।

उत्तर – दोहा

रागादिक परिनाम तौ, है अशुद्धतारूप।
याही करि संसार में, है अशुद्ध चिद्रूप।।१०१।।
यामें तौ संदेह नहिं, है परंतु संकेत।
यहाँ विविच्छा भेदतैं, कथन करी जिहि हेत।।१०२।।

छप्पय

शुद्ध दरव का कथन, एक दरवाश्रित जानो।
और दरव का और मो(?), अशुद्धता सो(?) मानो।।
यही अपेक्षा यहाँ, कथन का जोग बना है।
औ पुनि निहचै बंध, नियत नय गहन भना है।।
ताको सुहेत अब कहत हौं, सुनो सुनो मन लायकै।
जातैं सब संशय दूर है, सुथिर होहु शिव पायकै।।१०३।।

चौबोला

जो यह जीव लखै अपने को, निज विकारतैं बंध धरै।
तौ विकार तजि वीतराग ह्वै, छूटन हेत उपाय करै।।
जो परकृत बंधन समुझै तब, वेदांतीवत नाहिं डरै।
यही अपेच्छा यहाँ कथन है, समुझै सो भवसिंधु तरै।।१०४।।

(४५) गाथा–१९० अशुद्धनय से अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है

ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं।।१९०।।

अर्थात् जो देह-धनादिक में 'मैं यह हूँ और यह मेरा है' ऐसी ममता को नहीं छोड़ता, वह श्रमणता को छोड़कर उन्मार्ग का आश्रय लेता है।

मनहरण

जाकी मति मैली ऐसी फैली जो शरीर पर,
दर्व ही को कहै की हमारो यही रूप है।
तथा यह मेरो ऐसो चेरो भयो मोह ही को,
छोड़ै न ममत्व बुद्धि धरै दौरधूप है।।
सो तो साम्यरसरूप शुद्ध मुनिपद ताको,
त्यागि के कुमारग में चलत कुरूप है।
ताको ज्ञानानन्दकन्द शुद्ध निरद्वंद सुख,
मिलै न कदापि वह परै भवकूप है।।१०५।।

दोहा

है अशुद्ध नय को विषय, ममता मोह विकार।
ताहि धरे वरतै सु तौ, लहै न पद अविकार।।१०६।।

(४६) गाथा-१९१ शुद्धनय से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है

णाहं होमि परेसिं ण मे पेरे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पा णं हवदि झादा।।१९१।।

अर्थात् मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं, मैं एक ज्ञान हूँ' इस प्रकार जो ध्यान करता है, वह ध्याता ध्यानकाल में आत्मा अर्थात् शुद्धात्मा होता है।

मनहरण

मैं जो शुद्ध बुद्ध चिनमूरत दरव सो तौ,
परदर्वनिको न भयो हों काहू काल में।
देहादिक परदर्व मेरे ये कदापि नाहिं,
ये तौ निजसत्ता ही में रहैं सब हाल में।।

मैं तौ एक ज्ञानपिंड अखंड परमजोत,
निर्विकल्प चिदाकार चिदानन्द चाल में।
ऐसें ध्यानमाहिं जो सुध्यावत स्वरूप वृन्द,
सोई होत आतमा को ध्याता वर भाल में।।१०७।।

दोहा

शुद्ध दरवनय को गहै, निहचैरूप अराध।
शुद्ध चिदातम सो लहै, मैटे कर्म उपाध।।१०८।।

(४७) गाथा-१९२ ध्रुवत्व के कारण शुद्धात्मा ही प्राप्त करनेयोग्य है

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं।।१९२।।

अर्थात् मैं आत्मा को इस प्रकार ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय महा पदार्थ ध्रुव, अचल, निरालम्ब और शुद्ध मानता हूँ।

मनहरण

हूं जो हौं विशुद्ध भेदज्ञान नैनधारी सो,
निजातमा दरव ताहि ऐसे करि जानौ हौं।
सहज सुभाव निज सत्ता ही में ध्रौव सदा,
ज्ञान के सरूप दरसनमई मानौ हौं।।
परभाव तजे तातैं शुद्ध औ अतिंद्री सर्व,
पदारथ जानैं तैं महारथ प्रमानौ हौं।
आपने सरूप में अचल परवस्तु कों न,
अवलंब करै यातैं अनालंब ठानौ हौं।।१०९।।

दोहा

ज्ञानरूप दरसनमई, अतिइन्द्री ध्रुव धार।
महा अरथ पुनि अचलवर, अनालंब अविकार।।११०।।

सात विशेषनि सहित इमि, लख्यौ आतमाराम।
ताही शुद्ध सरूप में, हम कीनों विसराम।।१११।।
पंच विशेषनि को कथन, करि आये बहु थान।
अनालंब अरु महारथ, इनको सुनो बखान।।११२।।

मनहरण

कर्ममल नासिके प्रकाश होत ज्ञान जोत,
सो तौ एकरूप ही अभेद चिदानन्द है।
तास में सभेद वृन्द ज्ञेय प्रतिबिम्ब सब,
तासकी सपेच्छ भेद अनन्त सुछन्द है।।
पाँचों जड़ दर्व के सरूप को दिखावै सोई,
याही तैं महारथ कहावत अमन्द है।
परवस्तु को सुभाव कभी न अलम्ब करै,
तातैं अनालम्ब याको भाषैं जिनचन्द है।।११३।।

(४८) गाथा-१९३ निजात्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी प्राप्त करनेयोग्य नहीं है।

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा।। १९३।।

अर्थात् शरीर, धन, सुख-दुःख अथवा शत्रुमित्रजन (यह कुछ) जीव के ध्रुव नहीं है; ध्रुव तो उपयोगात्मक आत्मा है।

दोहा

तन धन सुख दुख मित्र अरि, अध्रुव भने जिनभूप।
ध्रौव निजातम ताहि गहु, जो उपयोगसरूप।।११४।।

(४९) गाथा-१९४ इससे क्या होता है?

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं।। १९४।।

अर्थात् जो ऐसा जानकर विशुद्धात्मा होता हुआ परम आत्मा का ध्यान करता है, वह साकार हो या अनाकार मोह दुर्ग्रन्थि का क्षय करता है।

मतगयन्द

जो भवि होय महाव्रतधारक, या सु अनुव्रतकारक कोई।
या परकारसों जो परमातम, जानि के ध्यावत है थिर कोई।।
सो सुविशुद्ध सुभाव आराधक, मोह की गांठि खपावत सोई।
ग्रन्थनि को सब मंथनि कै, निरग्रन्थ कथ्यौ रससार इतोई।।११५।।

(५०) गाथा-१९५ मोहग्रन्थी टूटने से क्या-क्या होता है?

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि।। १९५।।

अर्थात् जो मोहग्रन्थि को नष्ट करके, राग-द्वेष का क्षय करके, समसुख-दुःख होता हुआ श्रमणता (मुनित्व) में परिणमित होता है, वह अक्षय सौख्य को प्राप्त करता है।

मनहरण

अनादि की मोह दुरबुद्धिमई गांठि ताहि,
जाने दूर कियौ निज भेदज्ञान बलतैं।

ऐसो होत सन्त वह इन्द्रिनि के सुख दुख,
सम जानि न्यारे रहै तिन के विकलतैं।।
सोई महाभाग मुनिराज की अवस्थामाहिं,
राग दोष भाव को विनाशै मूल थल तैं।
पावै सो अखंड अतिइन्द्रिय अनन्त सुख,
एक रस वृन्दावन रहै सो अचलतैं।।११६।।

(५१) गाथा–१९६ सुध्यान से अशुद्धता नहीं आती

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा।। १९६।।

अर्थात् जो मोह-मल का क्षय करके, विषय से विरक्त होकर, मन का निरोध करके, स्वभाव में समवस्थित है, वह आत्मा का ध्यान करनेवाला है।

मोहरूप मैल को खिपावै भेदज्ञानी जीव,
इन्द्रिनि के विषै सों विरागता सु पुरी है।
मन को निरोधि के सुभाव में सुथिर होत,
जहाँ शुद्ध चेतना की ज्ञानजोत फुरी है।।
सोई चिनमूरत चिदातमा को ध्याता जानो,
पर वस्तु से भी जाकी प्रीति रीति दुरी है।
ऐसे कुन्दकुन्द जी बखानी ध्यान ध्याता वृन्द,
सोई सरधानै जाकी मिथ्यामति चुरी है।।११७।।

प्रश्न – दोहा

जो मन चपल [१]पताकपट, पवन दीपसम ख्यात।
सो मन कैसे होय थिर, उत्तर दीजे भ्रात।।११८।।

१– पताका – निशान का वस्त्र।

उत्तर –

पाँचों इन्द्रिन के जिते, विषय भोग जगमाहिं।
तिन ही सों मन रात दिन, भमतो सदा रहाहि।।११९।।

मोह घटे वैरागता, होत तजै सब भोग।
निज सुभाव सुखमाहिं तब, लीन होय उपयोग।।१२०।।

तहां सुमन को खैंच के, एक निजातम भाव।
तामधि आनि झुकाइये, भेदज्ञान परभाव।१२१।।

तहां सो मन की यह दशा, होत और से और।
जैसे काग-जहाज को, सूझै और न ठौर।।१२२।।

जो कहुँ इत उत को लखै, तौ न कहूं विसराम।
तब हि होय एकाग्र मन, ध्यावै आतमराम।।१२३।।

ऐसे आतमध्यानतैं, मिलै अतिन्द्री शर्म।
शुद्ध बुद्ध चिद्रूपमय, सहज अनाकुल धर्म।।१२४।।

(५२) गाथा–१९७ सर्वज्ञ भगवान क्या ध्याते हैं?

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू।
णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो।। १९७।।

अर्थात् जिनने घनघातिकर्म का नाश किया है, जो सर्व पदार्थों के स्वरूप को प्रत्यक्ष जानते हैं और जो ज्ञेयों के पार को प्राप्त हैं, ऐसे सन्देहरहित श्रमण किस पदार्थ को ध्याते हैं?

मनहरण

घातिकर्म घाति भलीभांत जो प्रतच्छ सर्व,
वस्तु को सरूप निज ज्ञानमाहिं धरै है।

ज्ञेयनि के सत्ता में अनन्त गुन-पर्ज शक्ति,
ताहू को प्रमानकरि आगे विसनरै है।।
असन्देहरूप आप ज्ञाता सिरताज वृन्द,
संशय विमोह सब विभ्रम को हरै है।
ऐसो जो श्रमण सरवज्ञ वीतराग सो,
बतावो अब कौन हेत काको ध्यान करै है।।१२५।।

मनहरण

मोह उदै अथवा अज्ञानता सों जीवनि के,
सकल पदारथ प्रतच्छ नाहि दरसै।
यातैं चित चाह की निवाह हेतु ध्यान करै,
अथवा सन्देह के निवारिवे को तरसै।।
सो तो सरवज्ञ वीतरागजू के मूल नहिं,
[१]घातिविधि घातें ज्ञानानन्द सुधा बरसै।
इच्छा आवरन अभिलाश न सन्देह तब,
कोन हेत ताको ध्यावै ऐसो संशै परसै।।१२६।।

ज्ञानावरणादि सर्व बाधा सों विमुक्त होय,
पायो है अबाध निज आतम धरम है।
ज्ञान और सुख सरवंग सब आतमा के,
जासों परिपूरित सो राजै अभरम है।।
इन्द्री सों रहित उतकिष्ट अतिइन्द्री सुख,
ताही को एकाग्ररूप ध्यावत परम है।
ये ही उपचारकरि केवली के ध्यान कह्यौ,
भेदज्ञानी जानै यह भेद को मरम है।।१२७।।

१- घातियाकर्म।

(५३) गाथा–१९८ उन्हें परम सौख्य का ध्यान है

सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं।। १९८।।

अर्थात् अनिन्द्रिय और इन्द्रियातीत हुआ आत्मा सर्व बाधारहित और सम्पूर्ण आत्मा में समन्त (सर्व प्रकार के, परिपूर्ण) सौख्य तथा ज्ञान से समृद्ध वर्तता हुआ परम सौख्य का ध्यान करता है।

दोहा

अतिइन्द्री उतकिष्ट सुख, सहज अनाकुलरूप।
ताही को एकाग्र निज, अनुभवते जिनभूप।।१२८।।

अनइच्छक बाधा रहित, सदा एक रस धार।
यही ध्यान तिनके कह्यौ, नय उपचार अधार।।१२९।।

पुव्व कर्म की निरजरा, नूतन बंधै नाहिं।
यही ध्यान को फल लखौ, वृन्दावन मनमाहिं।।१३०।।

(५४) गाथा–१९९ मोक्षमार्ग शुद्धात्मा की उपलब्धि लक्षणवाला है।

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स।। १९९।।

अर्थात् जिन, जिनेन्द्र और श्रमण (अर्थात् सामान्य केवली, तीर्थंकर और मुनि) इस (पूर्वोक्त ही) प्रकार से मार्ग में आरूढ़ होते हुए सिद्ध हुए नमस्कार हो उन्हें और उस निर्वाण मार्ग को।

मनहरण

या प्रकार पूरवकथित शिवमारग में,
सावधान होय जो विशुद्धता संभारी है।

चरमशरीरी जिन तथा तीरथंकर,
जिनिन्ददेव सिद्ध होय वरी शिवनारी है।।
तथा एक दोय भवमाहिं जे मुकत जाहिं,
ऐसे जे श्रमन शुद्ध भाव अधिकारी है।
तिन्हैं तथा ताही शिवमारग को वृन्दावन,
वार वार भली भांति वंदना हमारी है।।१३१।।

दोहा

बहुत कथन कहँ लगु करों, जो शुद्धातम [१]तत्त।
ताही में [२]परवर्त करि, भये जु [३]तदगत-रत्त।।१३२।।

ऐसे सिद्धनिकों तथा, आतम अनुभवरूप।
शुद्ध मोख-मग को नमों, दरवितभाव सरूप।।१३३।।

(५५) गाथा-२०० स्वयं ही मोक्षमार्गरूप शुद्धातम-प्रवृत्ति करते हैं।

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्हि।। २००।।

अर्थात् ऐसा होने से (अर्थात् शुद्धात्मा में प्रवृत्ति के द्वारा ही मोक्ष होता होने से) इस प्रकार आत्मा को स्वभाव से ज्ञायक जानकर मैं निर्ममत्व में स्थित रहता हुआ ममता का परित्याग करता हूँ।

मनहरण

तातैं जैंसे तीरथेश आदि निजरूप जानि,
शुद्ध सरधान ज्ञान आचरन कीना है।

१- तत्त्व। २- प्रवृत्ति। ३- तद्गतरक्त-लवलीन।

कुन्दकुन्द स्वामी कहैं ताही परकार हम,
ज्ञायक सुभावकरि आपै आप चीना है।।
सर्व परवस्तुसों ममत्वबुद्धि त्यागकरि,
निर्ममत्व भाव में सु विसराम लीना है।
सोई समरसी वीतराग साम्यभाव वृन्द,
मुकत को मारग प्रमानत प्रवीना है।।१३४।।

मेरो यह ज्ञायक सुभाव जो विराजत है,
तासों और ज्ञेयनि सों ऐसो हेत झलकै।
कैधों वे पदारथ उकीरे ज्ञान थंभमाहिं,
कैंधों ज्ञान पटविषैं लिखे हैं अचलकैं।।
कैधों ज्ञान कूप में समानै हैं सकल ज्ञेय,
कैधों काहू कीलि राखे त्याग तन पलकै।
कैधों ज्ञानसिन्धु माहिं डूबे धों लपटि रहे,
कैधों प्रतिबिम्बत है [१]सीसे के महल कै।।१३५।।

ऐसो ज्ञान ज्ञेय को बन्यो है सनबंध तऊ,
मेरो रूप न्यारो जैसें चन्द्रमा फलक में।
अनादिसों और रूप भयो है कदापि नाहिं,
ज्ञायक सुभाव लिये राजत खलक में।।
ताको अब निहचै प्रमान करि वृन्दावन,
अंगीकार कियौ भेदज्ञान की झलक में।
त्यागी परमाद परमोद धारी ध्यावत हों,
जातैं पर्म धर्म शर्म पाइये पलक में।।१३६।।

१- काँच के।

दोहा

मेरो रूप अनादि तैं, थो याही परकार।
मोहि न सूझ्यो मोहवश, ज्यों मृग [१]मृगमद धार।।१३७।।

अब जिन प्रवचन दीपकरि, आप रूप लखि लीन।
तजि आकुल भ्रम मोहमल, भये तासु में लीन।।१३८।।

अब वन्दों शिवपंथ जो, शुद्धपयोग सरूप।
इक अखण्ड वरतत त्रिविधि, अमल अचल चिद्रूप।।१३९।।

भये जासु परसादतैं, शुद्ध सिद्ध भगवान।
[२]सुमग सहित वन्दों तिन्हें, भावसहित धरि ध्यान।।१४०।।

और जीव तिहि मगविषैं, जे वरतत उमगाय।
भावभगतजुत प्रीति सों, तिन्हें नमों सिरनाय।।१४१।।

कुन्दकुन्द श्रीगुरु भये, भवदधितरन जिहाज।
प्रवचनसार प्रकाश के, [३]सारे भविजन काज।।१४२।।

ते गुरु मो मन मल हरो, प्रगटो स्वपरविवेक।
आपा पर पहिचान में, रहै न भर्म [४]रतेक।।१४३।।

चौपाई

पूरन होत अवै अविकार। हेयादेय छठो अधिकार।
आगे चारित को अधिकार। होत अरंभ शुद्ध सुखकार।।१४४।।

छन्द कवित्त

मोह भरम तम भर्यो अभिन्तर, होत न आपा पर निरधार।
पुग्गल-जनित ठाठ बहुविधि लखि, ताकों आपा लखत गँवार।।

१- कस्तूरी। २- जैन आगम। ३- पूर्ण किये। ४- रती भर भी।

आपरूप जो वस्तु विलच्छन, ज्ञायक लच्छन धरैं उदार।
भेदज्ञान विन सो नहिं सूझत, है वह [१]'तिनके ओट पहार'।।१४५।।

दोहा

जैवंतो जिनदेव जो, पायौ शुद्ध सरूप।
कर्म कलंक विनाशि के, भये अमल चिद्रूप।।१४६।।

सो इत नित मंगल करो, सुखसागर के इन्दु।
वृन्दावन वन्दन करत, अर्ह वरन जुत बिन्दु।।१४७।।

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत परमागम श्री प्रवचनसारजी की वृन्दावनकृत भाषाविषैं द्रव्यनिका विशेषरूप कथन का अधिकार के पीछें विवहारिक जीवदशा ज्ञेयतत्त्वकथन ऐसा छठ्यो अधिकार सम्पूर्णम्।

मिती पौष वदी ९ भौम संवत् १९०५ काशीजी में वृन्दावन ने लिखी स्वपरोपकाराय। इहांताईं गाथा २०२। और भाषा के छन्द सब ७२८ भये सो जयवन्त होहु–

❀ ❀ ❀

१– तृण के अर्थात् तिनका के।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

अथ सप्तमश्चारित्राधिकारः

मंगलाचरण–दोहा

श्री अरिहन्त प्रनाम करि, सारद सुगुरु मनाय।
विघनकोट जातैं कटैं, नित नव मंगलदाय।।१।।

चारित को अधिकार अब, शिवसुखसाधनहेत।
लिखों ग्रंथ–पथ पेखकै, जो अबाध सुख देत।।२।।

अथ मोक्षाभिलाषी का लक्षण–मनहरण

मोच्छअभिलाषी भव्य जीव को प्रथम सर्व,
दर्वनि को जथारथ ज्ञान भयो चहिये।
तैसैं ही चारित्र को स्वरूप भले जान करि,
ज्ञान के सुफल हेत ताकों तब गहिये।।
आतमीक ज्ञानसेती जेती अविरोध क्रिया,
इच्छा अहंकार तजि ताही को निबहिये।
ऐसे ज्ञान आचरन दोनों माहिं वृन्दावन,
एकताई भये ही सों अखै सुख लहिये।।३।।

(१) गाथा–२०१ अब इस अधिकार की गाथाओं का प्रारंभ

चरणानुयोग सूचक चूलिका

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं।। २०१।।

अर्थात् यदि दुःखों से परिमुक्त होने की (छुटकारा पाने की)

इच्छा हो तो, पूर्वोक्त प्रकार से (ज्ञानतत्व-प्रज्ञापन की प्रथम तीन गाथाओं के अनुसार) बारम्बार सिद्धों को, जिनवरवृषभों को (अरहन्तों को) तथा श्रमणों को प्रणाम करके, (जीव) श्रामण्य को अंगीकार करो।

दोहा

ग्रंथारभ विषैं सुगुरु, जिहिकारि बंदे इष्ट।
तिनही गाथनिसों यहां, नमें पंच परमिष्ट।।४।।

फिर गुरु कहत दयाल वर, जिमि हम इष्ट मनाय।
अमल ज्ञान दरसनमई, पायौ साम्य सुभाय।।५।।

तैसे ही भवि वृन्द तुम, दुखसों छूटन हेत।
यह मुनिमारग आचरौ, जो सुभावनिधि देत।।६।।

(२) गाथा-२०२ श्रमण होने का इच्छुक पहले क्या-क्या करता है, उसका उपदेश।

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं।। २०२।।

अर्थात् (श्रामण्यार्थी) बन्धुवर्ग से विदा माँगकर बड़ों से, स्त्री और पुत्र से मुक्त किया हुआ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार को अंगीकार करके.....

द्रुमिला

अपने सुकुटंब समूहनिसों, वह पूछिकै भेदविज्ञानधनी।
गुरु मात पिता रमनी सुत सों, निरमोहित होय विराग भनी।।
तब दर्शन ज्ञान चरित्र तथा, तप वीरज पंच अचार गनी।
इनको दिढ़ताजुत धारत है विधि, सों सविवेक प्रमाद हनी।।७।।

अथ बन्धुवर्ग सम्बोधन-विधि - चौपाई

मुनिमुद्रा जो धारन चहै। सो इमिसब कुटुम्ब सों कहै।
जो यह तन में चेतनराई। सो आतम तुम्हारो नहिं भाई।।८।।

यह निहचैकरि तुम अवधारो। तातैं मोसों ममता छाँरो।
मो उन ज्ञानजोत परकासे। आपुहि आप बंधु ढिग भासे।।९।।

मातुपिता - सम्बोधन

इस जन के तन के पितुमाता। अहो सुनो तुम वचन विख्याता।
इस तन को तुमने उपजाया। आतम को तुम नहिं निपजाया।।१०।।

यह निहचै करके अवधारो। तातैं मोसों ममता छाँरो।
ज्ञानजोति जुत आतमरामा। यह प्रगट्यो है चिद्गुनग्रामा।।११।।

अपनो सहज सुभाव सु सत्ता। सोई मातपिता धुववत्ता।
तासों यह अब प्रापत हो है। यातैं मोसों तजिये मोहै।।१२।।

स्त्री सम्बोधन-वचन

हे इस चेतन तन की नारी। रमी तु तनसों बहुत प्रकारी।
आतमसों तू नाहिं रमी है। यह निहचैकरि जानि सही है।।१३।।

तातैं इस आतम सों ममता। तजि करि तू अब धरि उर समता।
मम घट ज्ञानजोत अब जागा। विषयभोग विषसम मोहि लागा।।१४।।

निज अनुभूतरूप वरनारी। तासों रमन चहत अविकारी।
इहि विधि परविरागजुत वानी। कहै नारिसों भेदविज्ञानी।।१५।।

पुत्र सम्बोधन-वचन

हो इस जन के तन के जाये। पुत्र सुनो मम वचन सुहाये।
तू इस आतम सों नहिं जाया। यह निहचै करि समुझ सु भाया।।१६।।

तातैं तुम मम ममता त्यागो। समताभाव-सुधारस पागो।
यह आतम निज ज्ञानजोतिकर। प्रगट भयो उर-मोह-तिमिर-हर।।१७।।

याके सुगुन सुपूत सयाने। हैं अनादितैं संग प्रधाने।
नितसों प्रापति होंन चहै है। तुमसों यह समुझाय कहै है।।१८।।

दोहा

बन्धुवरगसों आपु को, या विधि लेय छुड़ाय।
कहि विराग के वचन बर, मुनिपद धारै जाय।।१९।।

जो आतमदरसी पुरुष, चाहै मुनिपद लीन।
सो सहजहि सुकुटुम्बसों, है विरकत परवीन।।२०।।

ताहि जु आय परै कहूँ, कहिवे को सनबन्ध।
तो पूरव परकासों, कहै वचन निरबन्ध।।२१।।

कछु ऐसो नहिं नियम जो, सब कुटुम्ब समुझाय।
तब ही मुनिमुद्रा धरै, बसै सु वन में जाय।।२२।।

सब कुटुम्ब काहू सुविधि, राजी नाहीं होय।
गृह तजि मुनिपद धरन मैं, यह निहचै करि जोय।।२३।।

जो कहुं बनै बनाव तौ, पूरबकथित प्रकार।
कहि विरागजुत वचन वर, आप होय अनगार।।२४।।

तहां बन्धु के वर्ग में, निकटभव्य कोइ होय।
सुनि विरागजुत वचन तित, मुनिव्रत धारै सोय।।२५।।

अथ पंचाचारग्रहण विधि

अब जिस विधिसों गहत हैं, पंचाचार पुनीत।
लिखों सुपरिपाटी सहित, जथा सनातनरीत।।२६।।

मनहरण

आतमविज्ञानी जीव आपने सरूप को,
सुसिद्ध के समान देखि जानि अनुभवता।
उपाधीक भावनितैं आपु को नियारो मानि,
शुभाशुभक्रिया हेय जानिके न भवता।।
पुव्वबद्ध उदैतैं विकारपरिनाम होत,
रहै उदासीन तहां आकुल न पवता।
सो तो परदर्वनि को त्यागी है सुभाव ही तैं,
गहै ज्ञानगुन वृन्द तामें लवलवता।।२७।।

दोहा

ऐसे ज्ञानी जीव को, अब क्या त्यागन जोग।
अंगीकार करै कहा, जहं सुभावरस भोग।।२८।।

पै चारित्रसुमोहवश, होहिं शुभाशुभभाव।
तासु अपेच्छा तैं तिन्हें, त्याग गहन दरसाव।।२९।।

प्रथमहि गुनथानकनिकी, परिपाटी परमान।
अशुभरूप परनति तजै, निहचै सो बुधिवान।।३०।।

पीछे शुभ परनित विषैं, रतनत्रय विवहार।
पंचाचार गहन करै, सो जतिमति अनुसार।।३१।।

चौपाई

अहो आठविधि ज्ञानाचार। कालाध्ययन विनय हितकार।।
उपाधान बहुमान विधान। और अनिह्नव भेद प्रमान।।३२।।
अरथ तथा विंजन उर आन। तदुभय सहित आठ इमि जान।।
मैं निहचै तोहि जानों सही। शुद्धातम सुभाव तू नहीं।।३३।।

पै तथापि तबलों तोहि गहों। जब लों शुद्धातम निज लहों।।
तुव प्रसाद सीझै मम काज। यों कहि विनय गहै गुन साज।।३४।।

अथ दर्शनाचार धारण विधि

अहो आठ दरशनआचारा। नि:शंकित नि:कांछित धारा।।
निरविचिकित्सा निरमूढ़ता। उपगूहन [१]थिति [२]वाच्छल्लता।।३५।।
मैं निहचै तोहि जानों सही। शुद्धातम सुभाव तू नहीं।।
पै तथापि तबलों तोहि गहों। जबलों शुद्धातम निज लहों।।३६।।
तुव प्रसाद सीझै मम काज। यों करि विनय गहै गुन साज।।
समदिष्टी भविजीव प्रवीन। हिये विवेकदशा अमलीन।।३७।।

अथ चारित्राचार धारण विधि

अहो मुकतिमगसाधनहार। तेरहविधि चारित्राचार।
पाँच महाव्रत गुपति सु तीन। पाँचों समिति भेद अमलीन।।३८।।
मैं निहच तोहि जानों सही। शुद्धातम सुभाव तू नहीं।
पै तथापि तबलों तोहि गहों। जब लों-शुद्धातम निज लहों।।३९।।
तु प्रसाद सीझै ममकाज। यों करि विनय गहै गुन साज।
सुपरदया दोनों उर धरै। होय दिगम्बर शिवतिय बरै।।४०।।

अथ तपाचार धारण विधि

अहो दुवादश तप आचारा। अनशन अवमोदर्य उदारा।।
व्रतपरिसंख्यारसपरित्यागी। [३]विवकितसज्यासन बड़भागी।।४१।।
कायकलेश छ [४]वाहिज येहा। [५]प्राच्छित विनय सकल गुनगेहा।।
वैयाव्रतरत नित स्वाध्याये। ध्यानसहित [६]व्युतसर्ग बताये।।४२।।

१- स्थितिकरण। २- वात्सल्य। ३- विविक्तशय्यासन। ४- बाह्य।
५- प्रायश्चित। ६- कायोत्सर्ग।

मैं निहचै तोहि जानों सही। शुद्धातम सुभाव तू नहीं।।
पै तथापि तबलों तोहि गहों। जबलों शुद्धातम निज लहों।।४३।।
तुव प्रसाद सीझे मम काज। यों करि विनय गहै गुन साज।।
उभयभेद तप खेद न धरै। महा हरष मन में विसतरै।।४४।।

अथ वीर्याचारावधारण विधि

अहो सुशकति बढ़ावनिहार। वीर्याचार अचार अधार।।
मैं निहचै तोहि जानों सही। शुद्धातमसुभाव तू नहीं।।४५।।
पै तथापि तबलों तोहि गहों। जबलों शुद्धातम निज लहों।।
तुव प्रसाद सीझै मम काज। यों करि विनय गहै गुन साज।।४६।।

दोहा

पंचाचार पुनीत को, इहिविधि धारै धीर।
और कथन आगे सुनो, जो मेटै भवपीर।।४७।।

(३) गाथा–२०३ वह कैसा है उसका वर्णन

समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहिं तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो।। २०३।।

अर्थात् जो श्रमण है, गुणाढ्य है, कुल, रूप तथा वय से विशिष्ट है, और श्रमणों को अति इष्ट है ऐसे गणी को 'मुझे स्वीकार करो' ऐसा कहकर प्रणत होता है (प्रणाम करता है) और अनुगृहीत होता है।

मनहरण

पंचाचारविधि में प्रवीन जे अचारज जो,
मूलोत्तर गुनकरि पूरित अभंग है।
कुल रूप वय की विशेषताई लिये वृन्द,
मुनिनि को प्रियतर लगैं सरवंग है।

तापै यह जाय सिर नाय कर जोरि कहै,
स्वामी मोहि अंगीकार कीजिये उमंग है।
ऐसे जब कहै तव स्वामी अंगीकार करैं,
तवै वह नयो मुनि रहै संग संग है।।४८।।

अथ आचार्य लक्षण – चौपाई

पंचाचार आप आचरहीं। औरनि को तामें थिर करहीं।
दोनों विधि में परम प्रवीने। निज अनुभव समतारस भीने।।४९।।

जे उत्तमकुल के अवतारी। जिनहिं निशंक नमहिं नरनारी।
रहितकलंक कूरता त्यागी। सरल सुभाव सुजसि बड़भागी ।।५०।।

हीनकुली नहिं वन्दन जोगू। ताके होहि न शुद्धपयोगू।
कुलक्रम के कूरादि कुभावैं। हीनकुली में अवशि रहावैं।।५१।।

यातैं कुलविशेषताधारी। उचितकुली पावै पद भारी।
अरु जिनकी बाहिज छबि देखी। यह प्रतीति उर होत विशेखी।।५२।।

है इनके घट शुद्धप्रकासा। साम्यभाव अनुभव अभ्यासा।
अंतरंगगत: वाहिज दरसै। रूपविशेष यही सुख सरसै।।५३।।

बालक तथा बुढ़ापामाहीं। बुद्धि चपल अरु विकल रहाहीं।
तिनसों रहित सूरि परधाना। धीर बुद्धि गुन कृपानिधाना।।५४।।

जोवनदशा काममद व्यापै। तासों वर्जित अचलित आपै।
यह विशेषता वयक्रमकेरी। ताहि धरैं आचारज हेरी।।५५।।

धरैं सुष्टुवय वर्जित दूषन। शीलसिंधु गुनरतन विभूषन।
क्रियाकांड सिद्धांतनि के मत। कहि समुझावहिं मुनिजन को सत।।५६।।

जो मुनि को दूषन कहुँ लागै। मूलोत्तर गुन में पद पागै।
प्राच्छित देय शुद्ध करि लेही। तातैं अतिप्रिय लागत तेही।।५७।।

ऐसे आचारजपै जाई। कहै नवीन मुनी शिर नाई।
मोकों शुद्धातम को लाहू। हे प्रभु प्रापति करि अवगाहू।।५८।।

तब आचारज कहहिं उदारा। तोको शुद्धातम अविकारा।
ताकी लाभ करावनिहारी। यही भगवती दिच्छा प्यारी।।५९।।

ऐसी सुनि सो मन हरषाई। मानहु रंक महानिधि पाई।
बारबार गुरु को सिरनाई। तब मुनिसंग रहै सो जाई।।६०।।

(४) गाथा–२०४ यथाजातरूप का धारक

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूपवधरो।।२०४।।

अर्थात् मैं दूसरों का नहीं हूँ पर मेरे नहीं हैं, इस लोक में मेरा कुछ भी नहीं है—ऐसा निश्चयवान् और जितेन्द्रिय होता हुआ यथाजातरूपधर (सहजरूपधारी) होता है।

मनहरण

मेरे चिनमूरत तैं भिन्न परदर्व जिते,
तिनको तो मैं न कहूं भयौ तिहूँकाल में।
तेऊ परदर्व मेरे नाहिं जातैं कोई दर्व,
काहू को सुभाव न गहत काहू हाल में।।
तातैं इसलोक विषैं मेरी कछु नाहिं दिखै,
मेरो रूप मेरी ही चिदातमा की चाल में।
ऐसे करि निश्चै निज इन्द्रिनि को जीति जथा,
जातरूपधारी होत ताको नावों भाल मैं।।६१।।

दोहा

जथाजात को अर्थ अब, सुनो भविक धरि ध्यान।
ग्रंथपंथ निर्ग्रंथ जिमि, मंथन करी प्रमान।।६२।।

स्वयंसिद्ध जसो कछुक, है आतम को रूप।
तैसो निजघर में धरै, अमल अचल चिद्रूप।।६३।।

दूजो अर्थ प्रतच्छ जो, जैसो मुनिपद होय।
तैसी ही मुद्रा धरै, दरवलिंग है सोय।।६४।।

ऐसे दोनों लिंग को, धारत धीर उदार।
जथाजात ताको कहैं, बरै सोइ शिवनार।।६५।।

(५) गाथा–२०५ अथ द्रव्यलिंग लक्षण

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं।।२०५।।

अर्थात् जन्म समय के रूप जैसा रूपवाला, सिर और दाढ़ी-मूछ के बालों का लोंच किया हुआ, शुद्ध (अकिंचन), हिंसादि से रहित और प्रतिकर्म (शारीरिक शृंगार) से रहित—ऐसा (श्रामण्य का बहिरंग) लिंग है।

मनहरण

जथाजात दर्वलिंग ऐसो होत जहां,
परमानू परमान परिगहन रहतु है।
शीस और डाढ़ी के उपारि डारै केश आप,
शुद्ध निरगंथपंथ मंथ के गहतु है।।
हिंसादिक पंच जाके रंच नाहिं संचरत,
ऐसे तीनों जोग संच संच निबहतु है।

देह खेह-खान के सँवारनादि क्रियासेती,
रहित विराजै जैसी आगम उकतुं है।।६६।।

(६) गाथा-२०६ अथ भावलिंग

मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवओगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं।।२०६।।

अर्थात् मूर्च्छा (ममत्व) और आरम्भ रहित, उपयोग और योग की शुद्धि से युक्त तथा पर की अपेक्षा से रहित — ऐसा जिनेन्द्रदेव कथित (श्रामण्य का अन्तरंग) लिंग है। जो कि मोक्ष का कारण है।

परदर्वमाहिं मोह ममतादि भावनि को,
जहां न अरंभ कहूँ निराम्भ तैसो है।
शुद्ध उपयोग वृन्द चेतना सुभावजुत,
तीनों जोग तैसो जहां चाहियत जसो है।।
परदर्व के अधीन वर्त्तत कदापि नाहिं,
आतमीक ज्ञान को विधानवान वैसो है।
मोखसुखकारन भवोदधि उधारन को,
अंतरंगभावरूप जैनलिंग ऐसो है।।६७।।

दोहा

दरवितभावितरूप इमि, जथाजातपद धार।
अब आगे जो करत है, सुनो तासु विसतार।।६८।।

(७) गाथा-२०७ साक्षात् मुनिपद

आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो।।२०७।।

अर्थात् परम गुरु के द्वारा प्रदत्त उन दोनों लिंगों को ग्रहण करके, उन्हें नमस्कार करके व्रत सहित क्रिया को सुनकर उपस्थित (आत्मा के समीप स्थित) होता हुआ वह श्रमण होता है।

मनहरण

परमगुरु सो दर्वभाव मुनिमुद्रा धारि,
जथाजातरूप मनमाहिं हरसत है।
गुरु को प्रनाम थुति करै तब बारबार,
जाके उर आनंद को नीर वरसत है।।
मुनिव्रतसहित जे क्रिया को विभेद वृन्द,
तासु को श्रवनकरि हिये सरसत है।
ताही को गहनकरि ताही में सुथिर होत,
तबै वह मुनिपद पूरो परसत है।।६९।।

दोहा

परम-सुगुरु अरहंत जिन, तथा अचारज जान।
जिनपै इन दिच्छा गही, तिनहिं नमै थुति ठान।।७०।।

सुनि व्रत क्रिया गहन करै, ताही में थिर होय।
तव मुनिपद पूरन लहै, दरवित भावित दोय।।७१।।

रागादिक विनु आपको, लखैं सिद्ध समतूल।
परमसमायिक की दशा, तब सो लहै अतूल।।७२।।

प्रतिक्रमन आलोचना, प्रत्याख्यान जितेक।
जति मति श्रुति अनुसार सौ, धारै सहितविवेक।।७३।।

तीनों कालविषैं सो मुनि, तीनों जोग निरोध।
निज शुद्धातम अनुभवै, वरजित क्रियाविरोध।।७४।।

तब मुनिपदपूरन तिन्हें, दरवित भावित जान।
वृन्दावन वंदन करत, सदा जोरि जुग पान।।७५।।

(८-९) गाथा-२०८-२०९ श्रमण कदाचित् छेदोपस्थानपन के योग्य है सो कहते हैं

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च।।२०८।।
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि।।२०९।। [जुम्मं]

अर्थात् व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, लोच, आवश्यक, अचेलपना, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन, खड़े-खड़े भोजन, और एक बार आहार — ये वास्तव में श्रमणों के मूलगुण जिनवरों ने कहे हैं; उनमें प्रमत्त होता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है।

मनहरण

महाव्रत पंच पंच समिति सु संच पंच,
इन्द्रिनि को वंच केश लुंचत विराजै है।
षडावश्य क्रिया दिगअम्बर गहिया जल,
हौंन त्यागि दिया भूमिसैन रैन साजै है।।
दाँतवन करै नाहिं खड़े ही अहार करै,
सोऊ एकै वार प्रान धरन के काजै है।
येई अठाईस मूलगुन मुनि पदवी के,
निश्चैकरि कही जिनराज महाराजै है।।७६।।

तेई मूलगुनविषैं मुनि जो प्रमादी होय,
तवै ताकै संजम को छेद भंग होत है।
तहां सो अचारज पै जाय के प्रनाम करि,
मुनिमंडली के मध्य कहै दोष खोत है।।

जातैं येई गुन सर्व निर्विकल्प सामायिक,
भावरूप मुनि पदवी के मूल जोत है।
तातैं जैसे प्राछित बतावै गुरु तैसे करै,
फेरि तामें थित होत करत उदोत है।।७७।।

सोना अभिलाषी को जितेक आभरन ताके,
सर्व ही गहन जोग जातैं सर्व सोना है।
परजाय विना कहूं दरव रहत नाहिं,
तातै दर्वगाही को समस्त ही सलोना है।।
तैसे मुनि पदवी के मूल अठाईस गुन,
मुनिपद धारै ताको सर्वभेद होना है।
एको गुन घटै तवै मुनिपद भंग होय,
ऐसो जानि सर्वमाहिं सावधान होना है।।७८।।

(१०) गाथा-२१० श्रमण के दीक्षादातावत् छेदोपस्थापक दूसरा भी होता है यह कथन

लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि।
छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावगा समणा।।२१०।।

अर्थात् लिंगग्रहण के समय जो प्रव्रज्या (दीक्षा) दायक हैं वह उनके गुरु हैं और जो छेदद्वय में उपस्थापक हैं (अर्थात् १-जो भेदों में स्थापित करते हैं तथा २- जो संयम में छेद होने पर पुनः स्थापित करते हैं) वे शेष श्रमण निर्यापक हैं।

छप्पय

तिनको मुनिपद गहनविषैं, जे प्रथमाचारज।
सो गुरु को है नाम, प्रवृज्यादायक आरज।।
अरु जब संजम छेद, भंग होवै तामाहीं।
जो फिर थापन करै, सो निरयापक कहवाहीं।।

यों दोय भेद गुरु के तहां, दिच्छादायक एक ही।
छेदोपस्थापन के सुगुरु, बाकी होंहिं अनेक ही।।७९।।

दोहा

दिच्छा गहने बाद जो, संजम होवै भंग।
एकदेश वा सर्व ही, ऐसो होय प्रसंग।।८०।।

तामें फिर जो थिर करहिं, जतिपथरीतिप्रमान।
ते निर्यापक नाम गुरु, जानो श्रमन सयान।।८१।।

(११-१२) गाथा-२११-२१२ छिन्न संयम के प्रतिसंधान की विधि

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया।।२११।।

छेदुवजुत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं।।२१२।। (जुगलं)

अर्थात् यदि श्रमण के प्रयत्नपूर्वक की जानेवाली कायचेष्टा में छेद होता है तो उसे तो आलोचनापूर्वक क्रिया करना चाहिए।

(किन्तु) यदि श्रमण छेद में उपयुक्त हुआ हो तो उसे जैनमत में व्यवहारकुशल श्रमण के पास जाकर आलोचना करके (अपने दोष का निवेदन करके), वे जैसा उपदेश दें वह करना चाहिए।

छप्पय

जो मुनि जतनसमेत, काय की क्रिया अरंभत।
शयनासन उठि चलन, तथा जोगासन थंभत।।
तहँ जो संजम घात होय, तब सो मुनिराई।
आपु अलोचनसहित, क्रियाकरि शुद्धि लहाई।।

यह बाहिज संजम भंग को, आपुहि आप सुदण्डविधि।
करि शुद्ध होहिं आचार में, जे मुनिवृन्द विशुद्धनिधि।।८२।।

जिस मुनि का उपयोग, सुघट में भंग भया है।
रागादिक मल भाव, रतन में लागि गया है।।
तिनके हेत उपाय, जो जिनमारग के माहीं।
जती क्रिया में अतिप्रवीन, मुनिराज कहाहीं।।
तिनके ढिग जाय सो आपनो, दोष प्रकाशै विनय कर।
जो कहैं दंड सो करै तिमि, तब ह्वै शुद्धाचारधर।।८३।।

(१३) गाथा-२१३ परद्रव्य-प्रतिबंध का परिहार और श्रामण्य में वर्तन

अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि।।२१३।।

अर्थात् अधिवास में (आत्मवास में अथवा गुरुओं के सहवास में) वसते हुए या विवास में (गुरुओं से भिन्न वास में) वसते हुए, सदा (परद्रव्यसम्बन्धी) प्रतिबन्धों को परिहरण करता हुआ श्रामण्य में छेदविहीन होकर श्रमण विहरो।

जाके उर आतमीक ज्ञानजोति जगी वृन्द,
आप ही में आपको निहारै तिहूँपन में।
संजम के घात की न बात जाके बाकी रहै,
समता सुभाव जाको आवै न कथन में।।
सदाकाल सर्व परदर्वनि को त्यागैं रहै,
मुनिपदमाहिं जो अखंड धीर मन में।
ऐसो जब होय तब चाहै गुरु पास रहै,
चाहै सो विहार करै जथाजोग वन में।।८४।।

(१४) गाथा-२१४ श्रामण्य की परिपूर्णता का स्थान होने से स्वद्रव्य में ही लीनता का उपदेश

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्हि दंसणमुहम्हि।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो।।२१४।।

अर्थात् जो श्रमण सदा ज्ञान में और दर्शनादि में प्रतिबद्ध तथा मूलगुणों में प्रयत (प्रयत्नशील) विचरण करता है, वह परिपूर्ण श्रामण्यवान् है।

सम्यकदरशनादि अनन्त गुननिजुत,
ज्ञान के सरूप जो विराजै निज आतमा।
ताही में सदैव परिवर्तत रहत और,
मूलगुन में है सावधान बात बातमा।
सोई मुनि मुनिपदवी में परिपूरन है,
अंतरंग बहिरंग दोनों भेद भांतमा।
नहीं अविकारी परदर्व परिहारी वृन्द,
वरै शिवनारी जो विशुद्ध सिद्ध जातमा।।८५।।

(१५) गाथा-२१५ मुनि को सूक्ष्म परद्रव्य प्रतिबंध भी श्रामण्य के छेद का आयतन होने से निषेध्य है

भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा।
उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि।।२१५।।

अर्थात् मुनि, आहार में, क्षपण में (उपवास में), आवास में (निवासस्थान में), और विहार में उपधि में (परिग्रह में), श्रमण में (अन्य मुनि में) अथवा विकथा में प्रतिबन्ध नहीं चाहता।

भोजन उपास औ निवास जे गुफादि कहे,
अथवा विहारकर्म जहां आचरत हैं।
तथा देहमात्र परिग्रह जो विराजै और,
गुरु शिष्य आदि मुनिसंग विचरत हैं।।
और पुग्गलीक वृन्द वैन की उमंगमाहिं,
चरचा अनेक धर्मधारा वितरत हैं।
येते परदर्वनि को बन्यौ सनबंध तऊ,
महामुनि ममता न तासमें धरत हैं।।८६।।

दोहा

जो इनमें ममता धरैं, तजि समतारस रंग।
तब ही शुद्धपयोग में, मुनिपदवी ह्वै भंग।।८७।।

तातैं विगतविकार मुनि, वीतरागता धार।
संगसहित वरतैं तऊ, निजरसलीन उदार।।८८।।

(१६) गाथा-२१६ छेद का स्वरूप

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतय त्ति मदा।।२१६।।

अर्थात् श्रमण के शयन, आसन (बैठना), स्थान (खड़े रहना), गमन इत्यादि में जो अप्रयत चर्या है, वह सदा सतत हिंसा मानी गई है।

मनहरण

जतन को त्यागि कै जु मुनि परमादी होय,
आचरन करै विवहार काय करनी।
सैनासन बैठन चलन आदि ताके विषैं,
चंचलता धारै जो अशुद्धता की धरनी।।

तामें सर्व काल ताको निरंतर हिंसा होत,
ऐसे सरवज्ञ वीतरागदेव वरनी।
जातैं निज शुद्धभावघात की बड़ी है हिंसा,
तातैं सावधान ही सों शुद्धाचार चरनी।।८९।।

दोहा

जब उपयोग अशुद्ध की, होत प्रबलता चित्त।
तब ही बिना जतन मुनी, क्रिया करै सुनि मित्त।।९०।।

तहां शुद्ध उपयोग को, होत निरंतर घात।
हिंसा बड़ी यही कही, यातैं मुनिपद घात।।९१।।

तातैं जतन समेत निज, शुद्धपयोग सुधार।
सावधान वरतौ सुमुनि, तो पावो भवपार।।९२।।

(१७) गाथा-२१७ छेद के दो प्रकार अन्तरंग-बहिरंग

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स।।२१७।।

अर्थात् जीव मरे या जिये, अप्रयत आचारवाले के (अन्तरंग) हिंसा निश्चित है; प्रयत के, समितिवान् के (बहिरंग) हिंसामात्र से बन्ध नहीं है।

छप्पय

जतन त्यागि आचरन करत, जो मुनिपदधारी।
तहां जीव कोइ मरहु, तथा जीवहु सुखकारी।।
ताकहँ निहचै लगत, निरंतर हिंसादूषन।
वह घातत निजज्ञानप्रान, जो चिद्गुनभूषन।।

अरु जो मुनिसमितिविषैं सुपरि, वरतत हैं तिनके कही।
तनक्रियामाहिं हिंसा लगै, तऊ बंध नाहीं लही।।९३।।

दोहा

हिंसा दोय प्रकार है, अंतर वाहिजरूप।
ताको भेद लिखों यहाँ, ज्यों भाषी जिनभूप।।९४।।

अंतरभाव अशुद्धसुकरि, जो मुनि वरतत होय।
घातत शुद्ध सुभाव निज, प्रबल सुहिंसक सोय।।९५।।

अरु बाहिज बिनु जतन जो, करै आचरन आप।
तहँ परजिय को घात हो, वा मति होहु कदाप।।९६।।

अंतर निजहिंसा करै, अजतनचारी धार।
ताको मुनिपद भंग है, यह निहचै निरधार।।९७।।

जे मुनि शुद्धपयोगजुत, ज्ञानप्रान निजरूप।
ताकी इच्छा करत नित, निरखत रहत सुरूप।।९८।।

तिनकी कायक्रिया सकल, समितिसहित नित जान।
तहँ पर कहूँ मरै तऊ, करम न बँधै निदान।।९९।।

(१८) गाथा–२१८ अन्तरंग छेद का सर्वथा निषेध

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो।।२१८।।

अर्थात् अप्रयत आचारवाला श्रमण छहों काय सम्बन्धी वध का करनेवाला मानने में-कहने में आया है; यदि सदा प्रयतरूप से आचरण करे तो जल में कमल की भाँति निर्लेप कहा गया है।

मनहरण

जतन समेत जाको आचरन नाहीं ऐसे,
मुनि को तो उपयोग निहचै समल है।
सो तो षटकाय जीव बाधाकरि बाँधै कर्म,
ऐसे जिनचंद वृन्द भाषत विमल है।।
और जो मुनीश सदाकाल मुनिक्रियाविषैं,
सावधान आचरन करत विमल है।
तहाँ घात होत हू न बँधै कर्मबंध ताकै,
रहै सो अलेप जथा पानी में कमल है।।१००।।

(१९) गाथा-२१९ परिग्रहरूप उपाधि को एकान्तिक अन्तरंग छेदत्व होने से उपाधि अन्तरंग छेदवत् त्याज्य है, यह उपदेश करते हैं।

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं।।२१९।।

अर्थात् अब (उपधि के सम्बन्ध में ऐसा है कि), कायचेष्टापूर्वक जीव के मरने पर बन्ध होता है अथवा नहीं होता; (किन्तु) उपधि से-परिग्रह से निश्चय ही बन्ध होता है; इसलिए श्रमणों (अरहन्तदेवों) ने सर्व परिग्रह को छोड़ा है।

कायक्रियामाहिं जीवघात होत कर्मबन्ध,
होहु वा न होहु यहाँ अनेकान्त पच्छ है।
पै परिग्रह सों धुवरूप कर्मबन्ध बँधै,
यह तो अबाधपच्छ निहचै विलच्छ है।।

जातैं अनुराग विना याको न गहन होत,
याही सेती भंग होत संजम को कच्छ है।
ताही तैं प्रथम महामुनि सब त्यागैं संग,
पावैं तब उभैविधि संजम जो स्वच्छ है।।१०१।।

अन्तर के भाव बिना काय ही की क्रियाकरि,
संग को गहन नाहिं काहू भाँति होत है।
अरहन्त आदि ने प्रथम याको त्याग कीन्हों,
सोई मग मुनिनि कों चलिवो उदोत है।।
शुद्धभाव घातो भावौ रातो परिग्रहमाहिं,
दोऊ शुद्धसंजम को घाति मूल खोत है।
ऐसो निरधार तुम थोरे ही में जानो वृन्द,
याके धारे जागै नाहिं शुद्ध ज्ञानजोत है।।१०२।।

(२०) गाथा-२२० इस उपाधि-परिग्रह का निषेध अन्तरंग छेद का ही निषेध है

ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिदो।।२२०।।

अर्थात् यदि निरपेक्ष (किसी भी वस्तु की अपेक्षारहित) त्याग न हो तो भिक्षु के भाव की विशुद्धि नहीं होती; और जो भाव में अविशुद्ध है उसके कर्मक्षय कैसे हो सकता है ?

रूप सवैया

अन्तर चाहदाह परिहरकरि, जो न तजै परिगह परसंग।
सो मुनि को मन होय न निरमल, संजम शुद्ध करत वह भंग।।

मन विशुद्ध विनु करम कटैं किमि, जे प्रसंगवश बंधे कुढंग।
तातैं तिलतुष मित हु परिग्रह, तजहिं सरव मुनिवर सरवंग।।१०३।।

(२१) गाथा-२२१ उपाधि (परिग्रह) एकान्तिक अन्तरंग छेद है

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि।।२२१।।

अर्थात् उपधि के सद्भाव में उस (भिक्षु) के मूर्छा, आरम्भ या असंयम न हो यह कैसे हो सकता है? (कदापि नहीं हो सकता), तथा जो परद्रव्य में रत हो वह आत्मा को कैसे साध सकता है?

मनहरण

कैसे सो परिग्रह के होत सन्त अन्तर में,
ममता न होय यह कहाँ संभवत है।
कैसे ताके हेत सों उपाय न अरंभै औ,
असंजमी अवस्था को सो कैसे न पवत है।।
तथा परदर्व विषैं रागी भयौ कैसे तब,
शुद्धातम साधै मुधा रस भोगवत है।
यातैं वीतरागी होय त्यागि परिग्रह निरारंभ,
होय शुद्धरूप साधो सिखवत है।।१०४।।

दोहा

परिगहनिमित्त ममत्तता, जो न हियेमहँ होय।
तब ताको कैसे गहै, देखो मन में टोय।।१०५।।

परिगह होते होत धुव, ममता और अरंभ।
सो घातत सुविशुद्धमय, जो मुनिपद परवंभ।।१०६।।

तातैं तिलतुष परिमित हु, तजौ परिग्रह मूल।
इहि जुत जानों सुमुनिपद, ज्यों आकाश में फूल।।१०७।।

तातैं शुद्धातम विषैं, जो चाहो विश्राम।
तो सब परिगहत्यागि मुनि, होहु लहौ शिवधाम।।१०८।।

(२२) गाथा-२२२ अनिषिद्ध भी उपाधि है

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता।।२२२।।

अर्थात् जिस उपधि के (आहार-नीहारादि के) ग्रहण-विसर्जन में सेवन करने में जिससे सेवन करनेवाले के छेद नहीं होता, उस उपधियुक्त, काल क्षेत्र को जानकर, इस लोक में श्रमण भले वर्ते।

चौपाई

गहन-जतन-मग सेवनहारे। जे मुनि सुपरविवेक सुधारे।।
सो जिस परिगह धारन कीने। होय न भंग जु मुनिपद लीने।।१०९।।

देशकाल को लखि के रूपं। वरतहु जिमि भाषी जिनभूपं।।
अट्ठाईस मूलगुनमाहीं। दोष कदापि लगै जिमि नाहीं।।११०।।

दोहा

इत शंका कोई करत, मुनिपद तो निरगंथ।
तिनहिं परिग्रहगहन तुम, क्यों भाषैत हौ पंथ।।१११।।

मुनिमग दोय प्रकार कहि, प्रथमभेद उतसर्ग।
दुतिय भेद अपवाद है, दोउ साधत अपवर्ग।।११२।।

चौपाई

मुनि उतसर्ग-मार्ग के माहीं। सकल परिग्रह त्याग कराहीं।।
जातैं तहां एक निज आतम। सोई गहनजोग चिदगातम।।११३।।

तासों भिन्न और पुदगलगन। तिनको तहां त्याग विधि सों भन।।
शुद्धपयोगदशा सो जानौ। परम वीतरागता प्रमानौ।।११४।।

अब अपवाद सुमग सुनि भाई। जाविधि सों जिनराज बताई।।
जब परिग्रहतजि मुनिपद धरई। जथा जातमुद्रा आदरई।।११५।।

तब वह वीतरागपद शुद्धी। ततखनि दशा न लहत विशुद्धी।।
तब सो देशकाल कहँ देखी। अपनी शकति सकल अबरेखी।।११६।।

निज शुद्धोपयोग की धारा। जो संजम है शिवदातारा।।
तासु सिद्धि के हेत पुनीती। जो शुभरागसहित मुनिरीती।।११७।।

गहै ताहि तब ताके हेतो। बाहिजसंजम साधन लेतो।।
जे मुनिपदवी के हैं साधक। मुनिमुद्रा के रंच न बाधक।।११८।।

शुद्धपयोग सुधारन कारन। आगम-उकत करैं सो धारन।।
दया ज्ञान संजम हित कोई। अपवादी मुनि कहिये सोई।।११९।।

(२३) गाथा-२२३ उसका स्वरूप

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजगजणेहिं।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं।।२२३।।

अर्थात् भले ही अल्प हो तथापि, जो अनिंदित हो, असंयतजनों से अप्रार्थनीय हो और जो मूर्च्छादि की जननरहित हो - ऐसी ही उपधि को श्रमण ग्रहण करो।

मनहरण

जौ न परिग्रह कर्मबन्ध को करत नाहिं,
असंजमवन्त जाको जाँचै न कदाही है।

ममता अरम्भ आदि हिंसा सों रहित होय,
सोऊ थोरो मुनि ही के जोग ठहराहीं है।।
दया ज्ञान संजम को साधक सदीव दीखै,
संजम सराग ही में जाकी परछाहीं है।
अपवादमारगी मुनि को उपदेश यही,
ऐसो परिग्रह तुम राखो दोष नाहीं है।।१२०।।

दोहा

यामें हेत यही कहत, पीछी पोथी जानु।
तथा कमंडलु को गहन, यह सरधा उर आनु।।१२१।।
शुभपरनति संजम विषैं, इनको है संसर्ग।
ताही तैं इनको गहत, अपवादी मुनिवर्ग।।१२२।।

(२४) गाथा–२२४ उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है अपवाद नहीं

किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहे वि।
संग त्ति जिणवरिंदा अप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा।।२२४।।

अर्थात् जबकि जिनवरेन्द्रों ने मोक्षाभिलाषी के, 'देह परिग्रह है' ऐसा कहकर देह में भी अप्रतिकर्मपना (संस्काररहितपना) कहा (उपदेशा) है, तब उनका यह (स्पष्ट) आशय है कि उसके अन्य परिग्रह तो कैसे हो सकता है?

अहो भव्यवृन्द जहां मोक्ष अभिलाषी मुनि,
देहहू को जानत परिग्रह प्रमाना है।
ताहू सों ममत्तभाव त्यागि आचरन करै,
ऐसे सरवज्ञ वीतराग ने बखाना है।।
तहां अब कहो और कौन सो परिग्रह को,
गहन करेंगे जहां त्याग ही को वाना है।

ऐसो शुद्ध आतमीक पमधर्मरूप उत-सर्गमुनि,
मारग को फहरै निशाना है।।१२३।।

(२५) गाथा-२२५ अपवाद कौन सा भेद है?

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजागरूपवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं।।२२५।।

अर्थात् यथाजातरूप (जन्मजात-नग्न) जो लिंग वह जिनमार्ग में उपकरण कहा गया है, गुरु के वचन, सूत्रों का अध्ययन और विनय भी उपकरण कही गयी है।

काया को अकार जथाजात मुनिमुद्रा धरै,
एक तो परिग्रह यही कही जिनंद है।
फेर गुरुदेव जो सतत्त्व उपदेश करैं,
सोऊ पुग्गलीक वैन गहत अमंद है।।
बड़ेनि के विनै में लगावै पुग्गलीक मन,
तथा श्रुति पढ़ै जो सुपुग्गल को छंद है।
येते उपकर्न जैनपंथ में हैं मुनिनि के,
तेऊ सर्व परिग्रह जानो भविवृन्द है।।१२४।।

दोहा

एक शुद्धनिजरूप तैं, जेते भिन्न प्रपंच।
ते सब परिग्रह जानिये, शुद्धधर्म नहिं रंच।।१२५।।

तातैं इनको त्यागि के, गहो शुद्ध उपयोग।
सो उतसर्ग-सुमग कहो, जहँ सुभावसुखभोग।।१२६।।

(२६) गाथा-२२६ शरीर मात्र परिग्रह

इङलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्हि लोयम्हि।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो।।२२६।।

अर्थात् श्रमण कषायरहित वर्तता हुआ इस लोक में निरपेक्ष और परलोक में अप्रतिबद्ध होने से युक्ताहार-विहारी होता है।

मनहरण

जैसे घटपटादि विलोकिवेको भौनमाहिं,
दीपविषैं तेल घालि वाती सुधरत है।
तैसें ज्ञानजोति सों सुरूप के निहारिवे को,
आहार-विहार जोग काया की करत है।।
यहां सुखभोग की न चाह परलोकहू के,
सुख अभिलाष सों अबन्ध ही रहत है।
रागादि कषायनि कों त्यागे रहै आठों जाम,
ऐसो मुनि होय सो भवोदधि तरत है।।१२७।।

(२७) गाथा-२२७ युक्ताहार विहारी साक्षात् अनाहार विहारी ही है

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं मिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा।।२२७।।

अर्थात् जिसका आत्मा एषणारहित है (अर्थात् जो अनशनस्वभावी आत्मा का ज्ञाता होने से स्वभाव से ही आहार की इच्छा से रहित है) उसे वह भी तप है; (और) उसे प्राप्त करने के लिये (अनशन-स्वभाववाले आत्मा को परिपूर्णतया प्राप्त करने के लिये) प्रयत्न

करनेवाले श्रमणों के अन्य (स्वरूप से पृथक्) भिक्षा एषणारहित (एषणदोष से रहित) होती है; इसलिए वे श्रमण अनाहारी हैं।

जाको चिनमूरत सुभाव ही सों काहू काल,
काहू परदर्व को न गहै सरधान सों।
यही ताके अन्तर में अनसन शुद्ध तप,
निहचै विराजै वृन्द परम प्रमान सों।।
जोग निरदोष अन्न भोजन करत तऊ,
अनाहारी जानो ताको आतमीक ज्ञान सों।
तैसे ही समितिजुत करत विहार ताहि,
अविहारी मानो महामुनि परधान सो।।१२८।।

(२८) गाथा-२२८ मुनि के युक्ताहारित्व कैसे सिद्ध होता है?

केवलदेहो समणो देहे ण मम त्ति रहिदपरिकम्मो।
आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं।।२२८।।

अर्थात् केवलदेही (जिसके मात्र देहरूप परिग्रह वर्तता है, ऐसे) श्रमण ने शरीर में भी 'मेरा नहीं है' ऐसा समझकर परिकर्म रहित वर्तते हुए, अपने आत्मा की शक्ति को छुपाये बिना तप के साथ उसे (शरीर को) युक्त किया (जोड़ा) है।

मुनि महाराजजू के केवल शरीरमात्र,
एक परिग्रह यह ताको न निषेध है।
ताहू सों ममत्त छाँरि वीतरागभाव धारि,
अजोग अहारादि को त्यागैं ज्यों अमेघ है।।
नाना तपमाहिं ताहि नितही लगाये रहैं,
आतमशकति को प्रकाशत अवेध है।

सोई शिवसुन्दरी स्वयंवरी विधानमाहिं,
मुनि वर होय वृन्द 'राधाबेध' बेध है।।१२९।।

(२९) गाथा-२२९ युक्ताहार का विस्तार से वर्णन

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं।।२२९।।

अर्थात् वास्तव में वह आहार (युक्ताहार) एक बार ऊनोदर यथालब्ध (जैसा प्राप्त हो वैसा), भिक्षाचरण से, दिन में रस की अपेक्षा से रहित और मधु-माँस रहित होता है।

एक बार ही अहार निश्चै मुनिराज करैं,
सोऊ पेट भरैं नाहिं ऊनोदर को गहै।
जैसो कछू पावैं तैसो अंगीकार करैं वृन्द,
भिच्छा आचरन करि ताहू को नियोग है।।
दिन ही में खात रस आस न धरात मधु,
मांस आदि सरवथा त्याग अजोग है।
देहनेह त्यागि शुद्ध संजम के साधन को,
ऐसोई अहार शुद्ध साधुनि के जोग है।।१३०।।

चौपाई

एकै वार अहार वखाने। तासु हेत यह सुनो सयाने।।
मुनिपद की सहकारी काया। तासु सुथित यातैं दरसाया।।१३१।।
अरु जो बारबार मुनि खाई। तबहि प्रमाददशा बढ़ि जाई।।
दरवभावहिंसा तब लागै। संजमशुद्ध ताहि तजि भागै।।१३२।।
सोऊ रागभाव तजि लेई। तब सो जोग अहार कहेई।।
तातैं वीतरागताधारी। ऐसे साधु गहैं अविकारी।।१३३।।

सोऊ रागभाव तजि लेई। तब सो जोग अहार कहेई।।
तातैं वीतरागताधारी। ऐसे साधु गहैं अविकारी।।१३३।।

जो भरि उदर करै मुनिभोजन। तो ह्वै शिथिल न सधै प्रयोजन।।
जोगमाहिं आलस उपजावै। हिंसा कारन सोउ कहावै।।१३४।।

तातैं ऊनोदर आहारो। रागरहित मुनिरीति विचारो।।
सोई जोग अहार कहा है। संजमसाधन साध गहा है।।१३५।।

जथालाभ को हेत विचारो। आपु कराय जु करैं अहारो।।
तब मनवांछित भोजन करई। इन्द्रियराग अधिक उर धरई।।१३६।।

हिंसा दोष लगै धुव ताके। संजमभंग होहिं सब वाके।।
तातैं जथालाभ आहारी। मुनिकहँ जोग जानु निरधारी।।१३७।।

मिच्छाकरि जो असन बखानै। तहां अरंभ दोष नहिं जानै।।
ताहू में अनुराग न षरई। सोई जोग अहार उचरई।।१३८।।

दिन में भलीभांति सब दरसत। दया पलै हिंसा नहिं परसत।।
रैन असन सरवथा निषेधी। दिन में जोग अहार अबेधी।।१३९।।

जो रस आस धरै मनमाहीं। तो अशुद्ध उर होय सदाही।।
अंतर संजमभाव सु घाते। तातैं रस इच्छा तजि खाते।।१४०।।

मद्य मांस अरु शहद अपावन। इत्यादि जे वस्तु घिनावन।।
तिन को त्याग सरवथा होई। सोई परम पुनीत रसोई।।१४१।।

सकलदोष तजि जो उपजै है। सोई जोग अहार कहै है।।
वीतरागता तन सो धारी। गहै ताहि मुनिवृन्द विचारी।।१४२।।

(३०) गाथा-२३० उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री द्वारा आचरण की सुस्थितता का उपदेश

बालो वा वृद्धो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि।।२३०।।

अर्थात् बाल, वृद्ध, श्रान्त या ग्लान श्रमण मूल का छेद जैसा न हो, उस प्रकार से अपने योग्य आचरण आचरो।

द्रुमिला

जिन बालपने मुनि भार धरे, अथवा जिनको तन वृद्ध अती।
अथवा तप उग्रतैं खेद जिन्हें, पुनि जो मुनि को कोउ रोग हती।।
तब सो मुनि आतमशक्ति प्रमान, चरो चरिया निजजोग गती।
गुनमूल नहीं जिमि घात लहै, सो यही जतिमारग जानु जती।।

दोहा

अति कठोर आचरन जहँ, संजमरंग अभंग।
सोई मग उतसर्गजुत, शुद्धसुभाव-तरंग।।१४४।।

ऐसी चरिया आचरैं, तेई मुनि पुनि मीत।
कोमलमग में पग धरैं, देखि देह की रीत।।१४५।।

निज शुद्धातम तत्त्व की, जिहि विधि जानै सिद्ध।
सोई चरिया आचरैं, अनेकांत के वृद्ध।।१४६।।

अरु जे कोमल आचरन, आचरहीं अनगार।
पुनि निज शकति लखि, करहिं कठिन आचार।।१४७।।

...मभंग न होय जिमि, रहैं मूलगुन संग।
शुद्धातम में थिति बढ़ै, सोइ मग चलहि अभंग।।१४८।।

... क्रिया उतसर्ग्गमग, कोमलमग अपवाद।
त्यों मग पग धारहीं, सुमुनि सहित मरजाद।।१४९।।

.... जैसी तन की दशा, देखहिं मुनि निरग्रंथ।
... तैसी चरिया चरैं, सहित मूलगुन पंथ।।१५०।।

... दोनों मग के विषैं, होय विरोध प्रकास।
... मुनिमारग नहिं चलै, समुझो बुद्धिविलास।।१५१।।

... दोनों पगसों चलत, मारग कटत अमान।
... दोनों मग पग धरत, मिलत वन्द शिवथान।।१५२।।

(३१) गाथा-२३१ उत्सर्ग अपवाद के विरोध (अमैत्री) से आचरण की दु:स्थिरता होती है।

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो।।२३१।।

अर्थात् यदि श्रमण आहार अथवा विहार में देश, काल, श्रम, क्षमता तथा उपधि, इनको जानकर प्रवर्ते तो वह अल्पलेपी होता है।

मनहरण

नानाभांति देश को सुभाव पहिचानि पुनि,
शीतग्रीषमादिरितु ताहू को परखिकै।
तथा कालजनित सु खेद हू को वेदि औ,
उपासकी शकति वृन्द ताहू को निरखिकै।।
येई भेद भली भांति जानकरि अहो मुनि,
आहारविहार करो संजम सु रखिकै।
जामें कर्मबन्ध अल्प बँधै ताही विधिसेती
आचरन करो अनेकांत रस चखिकै।।१५३।।

चौपाई

जे उतसर्ग्गमार्ग के धारी। ते देशरु कालादि निहारी।।
बाल वृद्ध खेदित रुजमाहीं। मुनि कोमल आचरनकराहीं।।१५४।।

जामें संजम भंग न होई। करमप्रबन्ध बन्धै लघु सोई।।
शकति लिये न मूलगुन घातै। यहु मग तिनको उचित सदातै।।१५५।।

अरु जे अपवादिकमग ध्याता। सब विधि देशकाल के ज्ञाता।।
तु मुनि चारिहु दशामँझारी। होउ सुजोग अहारविहारी।।१५६।।

संजमरंग भंग जहँ नाहीं। ताही विधि आचरहु तहाँ ही।।
शकति न लोपि न मूलहु घातो। अलपबंध की क्रिया करातो।।१५७।।

दोहा

कोमल ही मग के विषैं, जो इकंत बुधि धार।
अनुदिन अनुरागी रहै, अरु यह करै विचार।।१५८।।

कोमल हू मग तो कही, जिन सिद्धांत मँझार।
हम याही मग चलहिंगे, यामें कहा बिगार।।१५९।।

तो वह हठग्राही पुरुष, संजमविमुख सदीव।
शकति लोपि करनी करत, शिथिलाचारी जीव।।१६०।।

ताको मुनिपद भंग है, अनेकान्त च्युत सोय।
बाँधै करम विशेष सो, शुद्ध सिद्ध किमि होय।।१६१।।

अरु जे कठिनाचार ही, हठकरि सदा करात।
कोमल मग पग धारतें, लघुता मानि लजात।।१६२।।

देशकालवपु देखिकै, करहिं नाहिं आचार।
अनेकांत सों विमुख सो, अपनो करत बिगार।।१६३।।

वह अतिश्रमतैं देह तजि, उपजैं सुरपुर जाय।
संजम अम्रत वमन करि, करम विशेष बँधाय।।१६४।।

तातैं करम बँधै अलप, सधै निजातम शुद्ध।
सोई मग पग धारिबो, संजम सहित विशुद्ध।।१६५।।

है सरवज्ञ जिनिंद को, अनेकान्त मत मीत।
तातैं दोनों पंथसों, हे मुनि राखो रीत।।१६६।।

कहुँ कोमल कहुँ कठिन व्रत, कहुँ जुगजुत वरतंत।
शुद्धातम जिहि विधि सधै, वह मुनिमग सिद्धंत।।१६७।।

संजमभंग बचायकै, देश काल वपु देखि।
कोमल कठिन क्रिया करो, करम न बँधै विशेखि।।१६८।।

अरु अस हठ मति राखियो, संजम रहै कि जाहि।
हम इक दशा न छाँड़ि हैं, सो यह जिनमत नाहि।।१६९।।

जैसे जिनमत है सोई, कहो तुम्हैं समुझाय।
जो मग में पग धारि मुनि, पहुंचे शिवपुर जाय।।१७०।।

कहूं अकेलो है यही, जो मारग अपवाद।
कहूं अकेलो लसतु है, जो उतसर्ग अनाद।।१७१।।

कहुं उतसर्गसमेत है, यहु मारग अपवाद।
कहुं अपवादसमेत है, मग उतसर्ग अवाद।।१७२।।

ज्यों संजमरच्छा बनत, त्यों ही करहिं मुनीश।
देशकालवपु देखिकै, साधहिं शुद्ध सुईश।।१७३।।

पूरव जे मुनिवर भये, ते निजदशा निहार।
दोनों मग की भूमि में, गमन किये सुविचार।।१७४।।

पीछे परमुतकिष्ट पद, ताहि ध्याय मुनिराय।
क्रियाकंड तैं रहित ह्वै, शुद्धातम लव लाय।।१७५।।

निज चैतन्यस्वरूप जो, है सामान्य विशेष।
ताही में थिर होय के, भये शुद्ध सिद्धेश।।१७६।।

जो या विधिसों और मुनि, ह्वै सुरूप में गुप्त।
सो निजज्ञानानंद लहि, करै करम को लुप्त।।१७७।।

यह आचारसुविधि परम, पूरन भयौ अमंद।
मुनिमग को सो जयति जय, वंदत वृन्द जिनिन्द।।१७८।।

अधिकारान्त मंगल

मंगलदायक परमगुरु, श्री सरवज्ञ जिनिंद।
वृन्दावन वन्दन करत, करो सदा आनन्द।।१७९।।

इति श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत परमागम श्री प्रवचनसारजी की वृन्दावन अग्रवाल काशीवासीकृत भाषाविषैं आचारविधिचारित्राधिकार नामा सातवाँ अधिकार सम्पूरन भया।

मिति पौष शुक्ल अष्टमी ८ मंगलवार सं. १९०५ पाँच काशीमध्ये निजहस्ते लिखितं वृन्दावनेन स्वपरोपकाराय। इहां ताईं सर्वगाथा २३२ अर भाषा के सर्व छंद ९०६ नव से छह सो जयवंत होहु। श्रीरस्तु मंगलस्तु।।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

अथाष्टम एकाग्ररूपमोक्षमार्गाधिकारः

मंगलाचरण– दोहा

सिद्धशिरोमनि सिद्धपद, वंदों सिद्ध महेश।
सो इत नित मंगल करो, मैटो विघन कलेश।।१।।

सम्यक्दरशन ज्ञान व्रत, तीनों जत्र इकत्र।
सोई शिवमग नियतनय, है शुद्धातम तत्र।।२।।

तथा जिन्हें यह लाभ हुव, ऐसे जे मुनिराज।
तिनहू को शिवमग कहिये, धरमी धरम समाज।।३।।

तासु परापति के विषैं, जिन आगम को ज्ञानि।
अवशि चाहिये तासतैं, अभ्यासो जिनवानि।।४।।

(१) गाथा–२३२ प्रथम मोक्षमार्ग के मूल साधनभूत आगम में प्रवृत्ति

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा।। २३२।।

अर्थात् श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होता है; एकाग्रता पदार्थों के निश्चियवान के होती है; (पदार्थों का) निश्चय आगम द्वारा होता है; इसलिए आगम में व्यापार मुख्य है।

मनहरण

सम्यकदरश ज्ञान चारित की एकताई,
येही शुद्ध तीरथ त्रिवैंनी शिवमग है।

ताकी एकताई मुनि पाई जब सुपर,
पदारथ को भलीभाँति जानत उमग है।।
ऐसो भेदज्ञान जिन-आगम ही सेती होत,
संशय विमोह ठग लागै नाहिं लग है।
ताही तैं जिनागम अभ्यास परधान कह्यौ,
जाकी अनेकांत जोत होत जगमग है।।५।।

सवरवज्ञभाषित सिद्धांत विनु वस्तुनि को,
जथारथ निहचै न होत सरवथा है।
विना सर्वदर्वनि को भलीभाँति जानै कहो,
कैसे निच आतमा को जानै श्रुति मथा है।।
याही तैं मुनिंदवृन्द शब्दब्रह्म को अभ्यासि,
आपरूप जानि तामें होहि थिर जथा है।
तातैं शिवमारग को मूल जिन आगम है,
ताको पढ़ो सुनो गुनो यही सार कथा है।।६।।

दोहा

जे जन जिनशासन विमुख, बहिरमुखी ते जीव।
डाँवाडोल मिथ्यातवश, भटकत रहत सदीव।।७।।

करता वनत त्रिलोक के, कबहुं भोगता होहि।
इष्टानिष्ट विभावजुत, सुथिर न कबहूँ सोहि।।८।।

ज्यों समुद्र में पवन तैं, चहुँदिशि उठत तरंग।
त्यों आकुलता सों दुखित, लहैं न समरसरंग।।९।।

जब अपने को जानई, ज्ञानानन्द सरूप।
तब न कबहुं परदरव को, करता बनै अनूप।।१०।।

जो आतम निज ज्ञानकरि, लोकालोक समस्त।
प्रगट पानकरि आप में, सुथिर रहत परशस्त।।११।।

ऐसो जो भगवान यह, चिदानन्द निरद्वंद।
सो जिनशासनतैं लखहिं, महामुनिनि के वृन्द।।१२।।

तब ताको सरधान अरु, ज्ञान जथारथ धार।
ताही में थिर होय के, पावैं पद अविकार।।१३।।

तातैं जिनआगम बड़ो, उपकारी पहिचान।
ताको वृन्द पढ़ो सुनो, यह उपदेश प्रधान।।१४।।

(२) गाथा-२३३ आगम-हीन को मोक्ष नहीं।

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।।२३३।।

अर्थात् आगमहीन श्रमण आत्मा को (निज को) और पर को नहीं जानता; पदार्थों को नहीं जानता हुआ भिक्षु कर्मों को किस प्रकार क्षय करे?

मत्तगयन्द

जो मुनि को आगमज्ञान, सो तो निज औ पर को नहिं जानै।
आपु तथा पर को न लखै तब, क्यों करि कर्म कुलाचल भानैं।।
जासु उदै जगजाल विषैं, चिरकाल विहाल भयो भरमानै।
तातै पढ़ो मुनि श्रीजिनआगम, तो सुखसों पहुंचो शिवथानै।।१५।।

कवित्त छंद

जिन आगम सों दरव भाव नो, करमनिकी हो है तहकीक।
तब निजभेदज्ञान बलकरिकै, चूरै करम लहै शिव ठीक।।
तिस आगम तैं विमुख होयकैं, चहै जो शिवसुख लहों अधीक।
सो अजान विनु तत्त्वज्ञान नित, पीटत मूढ़ सांप की लीक।।१६।।

आगमज्ञान रहित नित जो मुनि, कायकलेश करै तिरकाल।
ताको सुपरभेद नहिं सूझत, आगम तीजा नयन विशाल।।
तब तहँ भेदज्ञान बिनु कैसे, चलैं शुद्ध शिवमारग चाल।
सो विपरीत रीत की धारक, गावत तान ताल बिनु ख्याल।।१७।।

दोहा

ज्यों ज्यों मिथ्यामग चलै, त्यों त्यों बंधै सोय।
ज्यों ज्यों भींजै कामरी, त्यों-त्यों भारी होय।।१८।।

(३) गाथा-२३४ मोक्षमार्गी को आगम ही एक चक्षु है

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू।। २३४।।

अर्थात् साधु आगमचक्षु (आगमरूप चक्षुवाले) हैं, सर्व प्राणी इन्द्रियचक्षुवाले हैं, देव अवधिचक्षु हैं और सिद्ध सर्वतः चक्षु (सर्व ओर से चक्षुवाले अर्थात् सर्वात्मप्रदेशों से चक्षुवान्) हैं।

सोरठा

आगमचक्षू साध, अक्षचक्ष जगजीव सब।
देव औधदृग लाध, सिद्ध सर्वचक्षू विमल।।१९।।

तातैं यह उर आनि, अनेकांत जाकी धुजा।
सो आगम पहिचानि, पढ़ो सुनो भवि वृन्द नित।।२०।।

आगम ही हैं नैन, शिवसुखइच्छुक मुनिनिके।
यों भाषी जिनवैन, स्वपरभेदविज्ञानप्रद।।२१।।

(४) गाथा-२३५ आगमचक्षु से सब कुछ दिखाई देता है

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण हि पेच्छिता ते वि ते समणा।। २३५।।

अर्थात् समस्त पदार्थ विचित्र (अनेक प्रकार की) गुण-पर्यायोंसहित आगम सिद्ध हैं। उन्हें भी वे श्रमण आगम द्वारा वास्तव में देखकर जानते हैं।

माधवी

जिन आगम में सब दर्वनि को, गुन पर्ज विभेद भली विधि साधा।
तिस आगम ही तैं महामुनि देखकै, जानै जथारथ अर्थ अगाधा।।
तब भेदविज्ञान सुनैन प्रमान, निजातम वृन्द लहै निरबाधा।
अपने पद में थिर हो करिके, अरि को हरि के सु वरै शिवराधा।।२२।।

जिनवाणी महिमा - मनहरण

एक एक दर्व में अनन्तनन्त गुन पर्ज,
नित्यानित्य लच्छन सों जुदे जुदे धर्म है।
ताको जिनवानी ही अबाधरूप सिद्ध करै,
हरै महा मोहतम अंतर को भर्म है।।
ताही की सहायतैं सु भेदज्ञाननैन खोलि,
जानैं महामुनि शुद्ध आतम को मर्म है।
सोई जगदंब को अलम्ब करै वृन्दावन,
त्यागि के विलम्ब सदा देत पर्म शर्म है।।२३।।

(५) गाथा-२३६ आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयमभाव की युगपतता होना ही मोक्षमार्ग है

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो।। २३६।।

अर्थात् इस लोक में जिसकी आगमपूर्वक दृष्टि (दर्शन) नहीं है उसके संयम नहीं है, इस प्रकार सूत्र कहता है; और असंयत वह श्रमण कैसे हो सकता है?

प्रथम जिनागम अभ्यासकरि यहाँ जाके,
सम्यकदरश सरधान नाहिं भयौ है।
ताके दोऊ भांति को न संजम विराजै कहूं,
ऐसे जिनभाषित सुवदे वरनयौ है।।
संजम सुभाव सों रहित जब भयौ तब,
निहचै असंजमी की दशा परिनयौ है।
कैसे तब ताको मुनिपद सोहै वृन्दावन,
सांची गैल छांडि के सो कांची [१]गैल लयौ है।।२४।।

दोहा

प्रथम जो आगम ज्ञान तैं, रहित होय सरधान।
भेदज्ञान बिनु किमि करैं, सो निजपर पहिचान।।२५।।

तब कषायसंमिलित जो, मोहराग परिनाम।
ताके वश होकै धरौ, विषयकषाय मुदाम।।२६।।

इन्द्रीविषयनि के विषैं, सो [२]परिवरत कराय।
छहों काय के जीव को, बाधक तब ठहराय।।२७।।

स्वेच्छाचारी जीव वह, ताको मुनिपद केम।
सर्वत्याग को है जहां, मुनिपदवी में नेम।।२८।।

तैसे ही पुनि तासुके, निरविकल्प समभाव।
परमातम निज ज्ञानघन, सोऊ नाहिं लखाव।।२९।।

अरु जे ज्ञेय पदार्थ के, हैं समूह जगमाहिं।
तामें ज्ञान सुछंद तसु, वरतत सदा रहाहिं।।३०।।

याहीतैं निजरूप में, होय नहीं एकत्र।
ज्ञान [३]वृत्त चंचल रहै, परसै सुथिर न तत्र।।३१।।

१- रास्ता-मार्ग। २- प्रवृत्ति। ३- चारित्र।

आगमज्ञान सु पुव्व जहँ, होय नहीं सरधान।
तहां न संजम संभवै, यह अबाध परमान।।३२।।

जाके संजम होय नहिं, तब मुनिपद किमि होय।
शिवमग दूजो नाम जसु, देखो घट में [1]टोय।।३३।।

तातैं आगमज्ञान अरु, तत्त्वारथ सरधान।
संजम भाव इकत्र जब, तबहिं मोखमग जान।।३४।।

माधवी

जिन आगम में नित सात सुभंग की, वृन्द अभंग धुजा फहरावै।
जिसको लखि के मुनि भेदविज्ञानि, सुसंजमसंजुत मोच्छ सिधावै।
तिहि को तजि के जो सुछन्दमती, अति खेद करै हठसों बहु धावै।
वह त्यागि के सीखसुधारस को, नित ओस के बूंद सों प्यास बुझावै।।३५।।

(६) गाथा–२३७ तीनों की एकता नहीं है, उसे मोक्षमार्ग नहीं

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि।। २३७।।

अर्थात् आगम से, यदि पदार्थों का श्रद्धान न हो तो, सिद्धि (मुक्ति) नहीं होती; पदार्थों का श्रद्धान करनेवाला भी यदि असंयत हो तो निर्वाण को प्राप्त नहीं होता।

मनहरण

आगम ही जानै कहो कहा सिद्धि होत जो न,
आपापरमाहिं सरधान शुद्ध आय है।
तथा सरधान हूँ पदारथ में आयौ तो,
असंजमदशासों कहो कैसे मोक्ष पाय है।।

१– खोज के।

याहीतैं जिनागमतैं सुपरपदारथ को,
सत्यारथ जानि सरधान दिढ़ लाय है।
फेरि शुद्ध संजमसुभाव में सुथिर होय,
सोई चिदानन्द वृन्द मोक्ष को सिधाय है।।३६।।

तत्त्वनि में रुचि परतीति जो न आई तो धौं,
कहा सिद्ध होत कीन्हें आगम पठापठी।
तथा परतीति प्रीति तत्त्वहू में आई पै न,
त्यागे राग दोष तौ तो है गठागठी।।
तबै मोखसुख वृन्द पाय है कदापि नाहिं,
तातैं तीनों शुद्ध गहु छांड़ि के हठाहठी।
जो तू इन तीन विन मोखमुख चाहै तौ तो,
सूत न कपास करै कोरी सों लठालठी।।३७।।

(७) गाथा-२३८ तीनों का युगपतपना होने पर भी आत्मज्ञान (निर्विकल्प ज्ञान) मोक्षमार्ग का साधक है

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण।।२३८।।

अर्थात् जो कर्म अज्ञानी लक्षकोटि भवों में खपाता है, वह कर्म ज्ञानी तीन प्रकार (मन-वचन-काय) से गुप्त होने से उच्छ्वासमात्र में खपा देता है।

आपने सुरूप को न ज्ञान सरधान जाके,
ऐसो जो अज्ञानी ताकी दशा दरसावै है।
जितने करम को सो विवहार धर्मकरि,
शत वा सहस्र कोटि जन्म में खिपावै है।।

तिते कर्म को सु आपरूप में सुलीन होय,
ज्ञानी एक स्वासमात्र काल में जलावै है।
ऐसो परधान शुद्ध आतमीक ज्ञान जानि,
वृन्दावन ताके हेत उद्यमी रहावै है।।३८।।

जाके शुद्ध सहज सुरूप को न ज्ञान भयौ,
और वह आगम को अच्छर रटतु है।
ताके अनुसार सो पदारथ को जानै,
सरधानै औ ममत्त लिये क्रिया को अटतु है।।
तहां पुव्व खिरै नित नूतन करम बंधै,
गोरख को धंधा नटबाजी सी नटतु है।
आगे को वटत जात पीछे [१]वछरू चवात,
जैसे [२]दृगहीन नर [३]जेवरी वटतु है।।३९।।

जाने निज आतमा को जान्यो भेदज्ञानकरि,
इतनो ही आगम को सार अंश चंगा है।
ताको सरधान कीनों प्रीति सों प्रतीति भीनों,
ताही के विशेष में अभंग रंग रंगा है।।
वाही में त्रिजोग को निरोधि के सुथिर होय,
तबै सर्व कर्मनि को क्षपत प्रसंगा है।
आपु ही में ऐसे तीनों साधैं वृन्द सिद्धि होत,
जैसे मन चंगा तो कठौतीमाहिं गंगा है।।४०।।

१- बछड़ा। २- अंधा। ३- रस्सी भांजता है।

(८) गाथा-२३९ आत्मज्ञान बिना तीनों एक साथ हो तो भी अकिंचित्कर हैं।

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि।।२३९।।

अर्थात् और यदि जिसके शरीरादि के प्रति परमाणु मात्र भी मूर्च्छा वर्तती हो तो वह भले ही सर्वागम का धारी हो तथापि सिद्धि को प्राप्त नहीं होता।

माधवी

जिसके तन आदि विषैं ममता, वरतै परमानुहु के परमानी।
तिसको न मिलै शिव शुद्धदशा, किन हो सब आगम को वह ज्ञानी।।
अनुराग कलंक अलंकित तासु, चिदंक लसै हमने यह जानी।
जिमि लोक विषैं कहनावत है, यह ताँत बजी तब राग पिछानी।।४१।।

दोहा

ज्यों करमाहिं विमल फटिक, देख परत सब शुद्ध।
त्यों मुनि आगमतैं लखहिं, सकल तत्त्व अविरुद्ध।।४२।।

तसु ज्ञाता चिद्रूप को, जानि करै सरधान।
अरु आचार हु करत सो, जतिपथरीति प्रमान।।४३।।

ऐसे आगम ज्ञान अरु, तत्त्वारथ सरधान।
संजम भाव इकत्रता, यह रतनत्रयवान।।४४।।

सो सूच्छिम हू राग जो, धरै तनादिक माहिं।
तिते कलंकहि तैं सु तो, शिवपद पावै नाहिं।।४५।।

तातैं आगमज्ञानजुत, निरविकल्प सु समाधि।
वीतरागतासहित ह्वै, तब सब मिटै उपाधि।।४६।।

सोरठा

जाके होय न ज्ञान, चिदानन्द चिद्रूप को।
सोई जीव अयान, ममता धरै तनादि में।।४७।।

सो न लहै निरवान, मोह [1]गंस तसु [2]हंस पर।
[3]गुभ्यौ गुप्त ही आन, भेदज्ञान विनु नहिं लखत।।४८।।

तातैं हे बुधिवान, लेहु स्वरूप निहार निज।
चिद्विलास अमलान, तामें थिर हो सिद्ध हो।।४९।।

(९) गाथा-२४० वह तीनों आत्मज्ञान के युगपदपना को सिद्ध करते हैं।

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो।।२४०।।

अर्थात् पाँच समितियुक्त, पाँच इन्द्रियों का संवरवाला तीन गुप्ति सहित, कषायों को जीतनेवाला, दर्शनज्ञान से परिपूर्ण - ऐसा जो श्रमण वह संयत कहा गया है।

सवैया-मात्रिका

जाके पंचसमिति सित सोभत, तीन गुपत उर लसत उदार।
पंचिंद्रिनि को जो संवर करि, जीतै सकल कषाय विकार।।
सम्यकदर्श ज्ञान सम्पूरन, जाके हिये वृन्द दुतिधार।
शुद्ध संजमी ताहि कहैं जिन, सो मुनि वरै विमल शिवनार।।५०।।

(१०) गाथा-२४१ ऐसे संयत का लक्षण

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो।। २४१।।

१- गांसी-फांसी। २- आत्मा पर। ३- चुभा है।

अर्थात् जिसे शत्रु और बन्धु वर्ग समान है, सुख और दुःख समान है, प्रशंसा और निन्दा के प्रति जिसको समता है, जिसे लोष्ट (मिट्टी का ढेला) और सुवर्ण समान है, तथा जीवन-मरण के प्रति जिसको समता है, वह श्रमण है।

छप्पय

जो जाने समतुल्य, शक्र अरु बंधुवर्ग निजु।
सुखदुख को सम जानि, गहै समता सुभाव हि जु।।
थुति निंदा पुनि लोह कनक, दोनों सम जानै।
जीवन मरन समान मानि, आकुलदल भानै।।
सोई मुनि वृन्द प्रधान है, समतालच्छन को धरै।
निज साम्यभाव में होय थिर, शुद्ध सिद्ध शिव तिय वरै।।५१।।

(११) गाथा-२४२ एकाग्रता लक्षण श्रामण्य

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं।। २४२।।

अर्थात् जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों में एक ही साथ आरूढ़ है, वह एकाग्रता को प्राप्त है इस प्रकार (शास्त्र में) कहा है। उसके श्रामण्य परिपूर्ण है।

मत्तगयन्द

जो जन सम्यकदर्शन ज्ञान, चरित्र विशुद्ध सुभाविकमाहीं।
एकहि बार भली विधि सों, करि उद्यम वर्त्तु है तिहि ठाहीं।।
सो निज आतम में लवलीन, इकाग्रदशामहँ प्रापति आहीं।
है तिनको परिपूरनरूप, मुनीश्वर को पद संशय नाहीं।।५२।।

दोहा

ज्ञेय रु ज्ञायक तत्त्व को, जहां शुद्ध सरधान।
सोई सम्यकदरश है, दूषनरहित प्रमान।।५३।।

ताहि जथावत जानिबो, सो है सम्यकज्ञान।
दरशज्ञान में सुथिरता, सो चारित्र प्रधान।।५४।।

येई तीनों भाव हैं, भावक आतम तास।
आपहि आपु सुभाव को, भावै थिर सुखरास।।५५।।

इन भावनि के बढ़न की, जहँ लगु हद्द प्रमान।
तहँ लगु बढ़हिं परस्पर, सुगुनसहित गुनवान।।५६।।

ये तिहुँ भाव सु अंग हैं, अंगी आतम तास।
अंगी अंग सु एकता, सदा सधत सुखरास।।५७।।

इमि एकता सुभाव जो, प्रनयौ आतम आप।
सोई संजम भाव है, आप रूप में व्याप।।५८।।

सो जद्दिप तिहुँ भेदकरि, है अनेक परकार।
तद्दिप एक स्वरूप है, निरविकलप नर द्वार।।५९।।

जैसे एकपना त्रिविधि, मधुर आमलौ तीत।
सुरस स्वाद तब मिलत जब, निरविकलप रसप्रीत।।६०।।

तैसे सो संजम जदपि, रतनत्रयतैं भेद।
तदपि सुभाविक एकरस, एकै गहै अखेद।।६१।।

परदरवनिसों भिन्न नित, प्रगट एक निजरूप।
ताहि सु मुनिपद कह हुआ, शिवमग कहो अनूप।।६२।।

सो शिवमग को तीन विधि, परजैनय के द्वार।
भाषतु हैं विवहारकरि, जाको भेद अपार।।६३।।

अरु एकतासरूप जो, शिवमग वरनन कीन।
दरवार्थिकनय द्वार तैं, सो निहचै रसलीन।।६४।।

जेते भेदविकल्प हैं, सो सब हैं विवहार।
अरु जो एक अभेदरस, सो निहचै निरधार।।६५।।

ऐसो शिवमग जानि के, निज आतम हित हेत।
हे भवि वृन्द करो गहन, जो अबाध सुख देत।।६६।।

(१२) गाथा–२४३ अनेकाग्रता मोक्षमार्ग नहीं

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं।।२४३।।

अर्थात् यदि श्रमण, अन्य द्रव्य का आश्रय करके अज्ञानी होता हुआ, मोह करता है, राग करता है, अथवा द्वेष करता है, तो वह विविध कर्मों से बँधते हैं।

जिस मुनि के नहिं, सुपरभेदविज्ञान विराजै।
अज्ञानी तसु नाम, कही जिनवर महाराजै।।
सो परदर्वहिं पाय, राग विद्वेष मोह धरि।
विविध करम को बन्ध, करत अपनो विकारकरि।।
निज चिदानन्द के ज्ञान विनु, शुद्ध सिद्धपद नहिं ठरत।
सो पाटकीट के न्यायवत, नित नूतन बन्धन वटत।।६७।।

(१३) गाथा–२४४ मोक्षमार्ग–उपसंहार

अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि।।२४४।।

अर्थात् यदि श्रमण पदार्थों में मोह नहीं करता, राग नहीं करता,

और न द्वेष को प्राप्त होता है तो वह नियम से (निश्चित) विविध कर्मों को खपाता है।

सवैया-मात्रिक

जो मुनि आतमज्ञान वृन्द जुत, सो पर दरवनि के जे थंम।
तिन में मोहित होत न कबहूँ, करत न राग न दोष अरंभ।।
सो निजरूपमाहिं निहचै थिर, है इकाग्र संजमजुत संम।
सोई विविध करम छय करिकै, देहि मोखमग सन्मुख बंम।।६८।।

दोहा

इहि प्रकार निरधार करि, भाषैं शिवमग पर्म।
शुद्धपयोगमयी सुमुनि, गहैं लहैं शिवशर्म।।६९।।

कवित्त-मात्रिक

जाके हिये मोहमिथ्यामत, हे भवि पूर रह्यौ भरपूर।
कैसहुकै न तजै हठ सो सठ, ज्यों महि गहै गोह पग भूर।।
जो कहुं सत्य सुनै तउ उर में, धरै न सरधा अतिहि करूर।
ताको यह उपदेश अफल जिमि, कूकर के मुखमाहिं कपूर।।७०।।

तातैं अब इस कथन मथन को, सुनो सार भवि धरि उपयोग।
सम्यक दरशन ज्ञानचरित में, सुथिर होहु जुत शुद्धपयोग।।
यही सुमुनिपद वृन्द अनूपम, यातैं कटें करम के रोग।
ताकों गहो मिल्यौ यह औसर, जैसे नदी नाव संजोग।।७१।।

अधिकारान्तमंगल-दोहा

पूरन भयौ सुखद परम, शिवमग शुद्धसरूप।
बन्दों श्रीजिनदेव को, जो लहि कही अनूप।।७२।।

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत परमागम श्री प्रवचनसारजी की वृन्दावन अग्रवाल काशीवासीकृतभाषाविषैं एकाग्ररूप मोक्षमार्ग का स्वरूप कथन ऐसा आठवाँ अधिकार पूरा भया। पौष शुद्ध पूरनमासी सोमवार संवत् १९०५।

इहां ताईं सर्व गाथा २४५ अरु भाषा के छन्द नवसै-अठहतर ९७८। सो जयवंत होहु। मंगलमस्तु। श्रीरस्तु।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

अथ नवमः शुभोपयोगरूप मुनिपदाधिकारः

मंगलाचरण–दोहा

श्री जिनवानी सुगुरु पद, वंदों शीस नवाय।
सकल विघन जातैं मिटैं, भविक वृन्द सुखदाय।।१।।

अब वरनत शुभभावजुत, मुनि पदवी की रीति।
श्रुति मथि गुरु संछपतैं, करो सुभवि परतीति।।२।।

(१) गाथा–२४५ शुभोपयोगी तो गौणतया श्रमण है

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा।। २४५।।

अर्थात् शास्त्र में (ऐसा कहा है कि), शुद्धोपयोगी वे श्रमण हैं, शुभोपयोगी भी श्रमण होते हैं; उनमें भी शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं, शेष सास्रव हैं, (अर्थात् शुभोपयोगी आस्रव सहित हैं।)

दो विधि के मुनि होहिं इमि, कही जिनागममाहिं।
एक शुद्धउपयोगजुत, इक शुभमग में जाहिं।।३।।

जे सुविशुद्धपयोगजुत, सदा निरास्रव तेह।
बाकी आस्रवसहित हैं, शुभ उपयोगी जेह।।४।।

द्रुमिला

जिनमारग में मुनि दोय प्रकार, दिगम्बररूप विराजत है।
इक शुद्धुपयोग विशुद्ध धरें, जिनतैं करमास्रव भाजत है।।
दुतिये शुभ भाव दशा सु धरैं, तिनके करमास्रव छाजत है।
यह भाविक भेद सनातन तैं, जिनआगम या विधि गाजत है।।५।।

सबही परदर्वनिसों ममता, तजिके मुनि को व्रत धीर धरैं।
चित चंचल अंश कषाय उदै, नहिं आतम शुद्ध प्रकाश करैं।।
मुनि शुद्धपयोगिनि के ढिग में, पुनि जे बरतैं अनुराग भरैं।
कहिये अब ते मुनि हैं कि नहीं, इमि पूछत शिष्य विनीत वरैं।।६।।

दोहा

याको उत्तर प्रथम ही, ग्रंथारम्भतमाहिं।
कहि आये हम हैं भविक, पुनि समुझो इहि ठाहिं।।७।।

माधवी

[१]निज धर्मसरूप जबै प्रनवै, यह आतम आप अध्यातम ध्याता।
तब शुद्धपयोगदशा गहि के, सो लहै निरवान सुखामृत ख्याता।।
अरु होत जहां शुभरूपपयोग, तहां सुरगादि विभौ मिलि जाता।
यह आपुहि है अपने परिनामनि को, फल भोगनिहार विधाता।।८।।

दोहा

शुभपयोग सों और पुनि, शुद्धातम निजधर्म।
तिनसों एक अरथविषैं, है समवाय सुपर्म।।९।।

एकातम ही के विषैं, दोनों भाव रहाहिं।
तातैं दोनों भाव को, धरम कही श्रुतिमाहिं।।१०।।

याही नयतैं हे भविक, शुभ उपयोगी साध।
तेऊ मुनि हैं पै तिन्हैं, आस्रव कर्म उपाध।।११।।

शुद्धुपयोगी के नहीं, करमास्रव को लेश।
ते सब कर्म विनाशि कै, होहिं शुद्ध सिद्धेश।।१२।।

१- यह पहले अध्याय की ग्यारहवीं गाथा का अनुवाद है, जो कि-पहले अध्याय में छप चुका है, अन्तर इतना है कि वहाँ छन्द मत्तगयन्द था, वहाँ प्रत्येक चरण में दो-दो लघु (निज, तब, अरु, यह) डालकर माधवी बना दिया है।

(२) गाथा-२४६ शुभोपयोगी श्रमण का लक्षण

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया।। २४६।।

अर्थात् श्रामण्य में यदि अरहन्तादि के प्रति भक्ति तथा प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्य पाया जाता है तो वह शुभयुक्त चर्या (शुभोपयोगी चारित्र) है।

रूप सवैया

जो मुनि के उर अन्तर माहीं, यह परनति वरतै सुनि [१]भव्व।
अरहन्तादि पंच गुरुपद में, भगत उमंग रंग रसतव्व।।
तथा परम आगम उपदेशक, तिनसों [२]वच्छलता विनु [३]गव्व।
सो शुभरूप कहावत [४]चरिया, यों वरनी जिनगनधर पव्व।।१३।।

छप्पय

जो परिगह परिहार, सुमुनिमुद्रा को धारै।
पै कषाय के अंश, तासु के उदय लगारै।।
तातैं शुद्धस्वरूपमाहिं, थिरता नहिं पावै।
तब पन शुद्धस्वरूप, सुगुरु सों प्रीति बढ़ावै।।
अरु जे शुद्धातमधरम के, उपदेशक तिनमें हरखि।
वर भक्ति सु सेवा प्रीतिजुत, बरततु है मुनिमग परखि।।१४।।

सोरठा

तिस मुनि के यह जानु, इतनहिं राग सु अंशकरि।
पर दरवनि में मानु, है प्रवृत्ति निहचैपनै।।१५।।
सो शुद्धातमरूप, ताकी थिरता सों चलित।
यों भाषी जिनभूप, वह शुभभावचरित्रधर।।१६।।

१- भव्य। २- वत्सलता। ३- गर्व-अभिमान। ४- चर्या-वृत्ति।

पंच परमगुरुमाहिं, भगत सु सेवा प्रीति जहँ।
सो शुभमग कहलाहिं, शुभ उपयोगिनि के चिह्न।।१७।।

(३) गाथा–२४७ उनकी प्रवृत्ति

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रागचरियम्हि।। २४७।।

अर्थात् श्रमणों के प्रति वन्दन - नमस्कार सहित अभ्युत्थान और अनुगमनरूप विनीत प्रवृत्ति करना तथा उनका श्रम दूर करना वह रागचर्या में निन्दित नहीं है।

मनहरण

महामुनिराजनि की वानीसेती थुति करै,
कायासेती नुति करै महामोद भरी है।
आवत विलोकि उठि खड़े होहि विनै धारि,
चालैं तब पीछे चलै शिष्यभाव धरी है।।
तिनके शरीरमाहिं खेद काहू भाँति देखै,
ताको दूर करै जथाजोग विसतरी है।
सराग चरित्र की अवस्थामाहिं मुनिनि को,
येती क्रिया करिवो निषेध नाहिं करी है।।१८।।

दोहा

शुभ उपयोगी साधु को, ऐसो वरतन जोग।
शुद्धुपयोगी सुमुनि प्रति, जहँ आतमनिधि भोग।।१९।।

जो श्रीमहामुनीश के, कहुँ उपसर्गवशाय।
खेद होय तो सुथिर हित, वैयावृत्ति कराय।।२०।।

जातैं खेद मिटै बहुरि, सुथिर होय परिनाम।
तब शुद्धातम तत्त्व को, ध्यावैं मुनि अभिराम।।२१।।

शुद्धातम के लाभतैं, रहित जु मिथ्यातीय।
ताकी सेवादिक सकल, यहाँ निषेध करीय।।२२।।

(४) गाथा-२४८ छठवें गुणस्थान में यह प्रवृत्तियाँ हैं

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य।।२४८।।

अर्थात् दर्शनज्ञान का (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का) उपदेश, शिष्यों का ग्रहण, तथा उनका पोषण, और जिनेन्द्र की पूजा का उपदेश वास्तव में सरागियों की चर्या है।

सम्यकदर्शन ज्ञान दशा, उपदेश करैं भवि को भवतारी।
शिष्य गहैं पुनि पोषहिं ताहि, भली विधिसों धरमामृतधारी।।
श्री जिनदेव के पूजन को, उपदेश करैं महिमा विसतारी।
है यह रीति सरागदशामहँ, वृन्द मुनिन्दनि को हितकारी।।२३।।

दोहा

शुद्धुपयोगी के परम, वीतरागता भाव।
तातैं तिनके यह क्रिया, होत नाहिं दरसाव।।२४।।

(५) गाथा-२४९ यह सभी प्रवृत्तियाँ शुभोपयोगियों के ही होती है

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से।।२४९।।

अर्थात् जो कोई (श्रमण) सदा (छह) काय की विराधना से रहित चार प्रकार के श्रमण संघ का उपकार करता है, वह भी राग की प्रधानतावाला है।

मत्तगयन्द

जामहँ जीव विराधे लहै नहिं, ताविधिसों नितही विधि ज्ञाता।
चारि प्रकार के संघ मुनीश को, ताको करै उपकार विख्याता।।
आपने संजम को रखिके, निहचै सबके सुखदायक ताता।
या विधि जो वरतै मुनि सो, परधान सरागदशामहँ भ्राता।।२५।।

दोहा

श्रावक अरु पुनि श्राविका, मुनि अरजिका प्रमान।
येई चारों संघ के, स्वामी सुमुनि सयान।।२६।।

शुद्धातम अनुभूति के, ये साधक चहुसंग।
तातैं नित रच्छा करहिं, इनकी सुमुनि उमंग।।२७।।

वैयावृत्तादिक क्रिया, जा विधि बनै उदार।
ताही विधिसों करत हैं, ते सराग अनगार।।२८।।

हिंसा दोष बचाय के, अपनो संजम राख।
संघानुग्रह में रहैं, सो प्रधान मुनि भाख।।२९।।

(६) गाथा-२५० मुनित्व उचित प्रवृत्ति विरोधी नहीं, किन्तु अनुचित प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से।। २५०।।

अर्थात् यदि (श्रमण) वैयावृत्ति के लिए उद्यमी वर्तता हुआ छह काय की पीड़ित करता है तो वह श्रमण नहीं है, गृहस्थ है; (क्योंकि) वह (छह काय की विराधना सहित वैयावृत्ति) श्रावकों का धर्म है।

कवित्त-मात्रिक

जो मुनि और मुनिनि के कारन, वैयावरत करन के हेत।
छहों काय को बाधक हो करि, उद्यमवान होय वरतेत।।
तो सो मुनि न होय यह जानो, है वह श्रावक सुविधि समेत।
जातैं वह अरंभजुत मारग, श्रावक धरममाहिं छवि देत।।३०।।

कुण्डलिया

तातैं जे केई सुमुनि, गहैं सराग चरित्त।
ते परमुनि को खेद लखि, ठानौ वैयावृत्त।।
ठानौ वैयावृत्त तहां, निज संजम राखो।
पर की करो सहाय, जथा जिनश्रुति में भाखो।।
षटकाया सविरोध, क्रिया गृहमध्य करातैं।
मुनि को सुपद बचाय, उचित पर हित कृत तातैं।।३१।।

(७) गाथा-२५१ किनके प्रति उपकार की प्रवृत्ति योग्य है? और किनके प्रति नहीं

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो।।२५१।।

अर्थात् यद्यपि अल्प लेप होता है तथापि साकार-अनाकार चर्यायुक्त जैनों का अनुकम्पा से निरपेक्षतया (शुभोपयोग से) उपकार करो।

माधवी

जिनशासन के अनुसार धरें व्रत, जे मुनिराय तथा गृहवासी।
तिनको उपकार करो सु दया धरि, त्यागि हिये फल की अभिलासी।।
इहि भाँति किये जदि जो तुमको, शुभकर्म बँधै कछु तो नहिं हांसी।
यह रीति सराग चरित्र विषैं, है सनातन वृन्द जिनिंद प्रकासी।।३२।।

(८) गाथा-२५२ शुभोपयोगी श्रमण को किस समय प्रवृत्ति करना योग्य है और किस समय नहीं

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए।।२५२।।

अर्थात् रोग से, क्षुधा से, तृषा से अथवा श्रम से आक्रान्त श्रमण को देखकर साधु अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्यादि करो।

मनहरण

कहूँ काहू मुनि को जो रोग सों विथित देखो,
तथा भूख प्यास करि देखो जो दुचित है।
तथा काहू भाँति की परीषह के जोगसेती,
काय में कलेश काहू मुनि के कुचित है।।
तहाँ तुम आपनी शकति के प्रमान मुनि,
ताकी वैयावृत्ति आदि करो जो उचित है।
जातैं वह साध निरुपाध होय वृन्दावन,
सहजसमाध में अराधै जो [१]सुचित है।।३३।।

(९) गाथा-२५३ शुभोपयोगी श्रमण है वह लोगों के साथ बातचीत की प्रवृत्ति किस निमित्त से करनेयोग्य है।

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा।।२५३।।

अर्थात् और रोगी, गुरु (पूज्य, बड़े), बाल तथा वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से, शुभोपयोगयुक्त लौकिकजनों के साथ की बातचीत निन्दित नहीं है।

१- चित्स्वरूप आत्मा।

रोगी मुनि अथवा अचारजै सुपूज गुरु,
तथा बाल वृद्ध मुनि ऐसे भेद वरनी।
तिनकी सहाय सेवा आदि हेत मुनिनि को,
लौकिक जनहूसों सुसंभाषन करनी।।
जामें तिन साधन के खेद को विछेद होय,
ऐसे शुभ भावनिसों वानी को उचरनी।
सराग आनन्द में अनिंद वृन्द विधि यह,
सुपरोपकारी बुधि भवोदधितरनी।।३४।।

(१०) गाथा-२५४ शुभ का गौण-मुख्य विभाग

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं।।२५४।।

अर्थात् यह प्रशस्तभूत चर्या श्रमणों के (गौण) होती है और गृहस्थों के तो मुख्य होती है, ऐसा (शास्त्रों में) कहा है; उसी से (परम्परा से) गृहस्थ परम सौख्य को प्राप्त होता है।

यह जो प्रशस्त रागरूप आचरन कहो,
वैयावृत्त आदि सो तो बड़ोई धरम है।
मुनिमण्डली में यह गौनरूप राजै जातैं,
तहां रागभाव मंद रहत नरम है।।
श्रावक पुनीत के बड़ोई धरमानुराग,
तातैं तहां उतकिष्ट मुख्यता परम है।
ताहीकरि परम्परा पावै सो परम सुख,
निहचै बखानी श्रुति यामें ना भरम है।।३५।।

(११) गाथा-२५५ कारण की विपरीतता-फल की भी

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि।।२५५।।

अर्थात् जैसे इस जगत में अनेक प्रकार की भूमियों में पड़े हुए बीज धान्यकाल में विपरीतरूप से फलते हैं, उसी प्रकार प्रशस्तभूत राग वस्तु-भेद से (-पात्र भेद से) विपरीतरूप से फलता है।

कवित्त

यह प्रशस्त जो रागभाव सो, वस्तु विशेष जो पात्रविधान।
तिनको जोग पायकरि सोई, फल विपरीत फलत पहिचान।।
ज्यों कृपि समै विविध धरनी तहँ, अविधि धरनिमहँ बीज बुवान।
सो विपरीत फलत फल निहचै, कारन सम कारज परमान।।३६।।

(१२) गाथा-२५६ कारण और फल की विपरीतता

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि।।२५६।।

अर्थात् जो जीव छद्मस्थविहित वस्तुओं में (छद्मस्थ-अज्ञानी के द्वारा कथित देव-गुरु-धर्मादि में) व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यान-दान में रत होता है वह जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं होता, (किन्तु) सातात्मक भाव को प्राप्त होता है।

मनहरण

छदमस्थ बुद्धी ने जो आपनी उकति ही सों,
देव गुरु धर्मादि पदारथ थापै है।
व्रत नेम ध्यानाध्येय दानादि बखाने तहां,
तामें जो सुरत होय प्रीति करि व्यापै है।।

तासों मोखपद तो सरवथा न पावै वै,
उपावै पुन्यरूप भाववीज यों अलापै है।
ताको फल भोगै देव मानुष शरीर धरि,
फेरि सो जगत ही में तपै तीनों तापै है।।३७।।

कवित्त (३१ मात्रा)

वीतराग सरवज्ञदेवकरि, जो भाषित है वस्तुविधान।
देवधर्म गुरु ग्रंथ पदारथ, तिनमें जो प्रतीति रुचिवान।।
सो शभुरागभाव वृन्दावन, निश्चय सों कीजो सरधान।
ताको फल साच्छात पुन्य है, परम्परा दे है शिवथान।।३८।।

दोहा

तातैं गहि भवि वृन्द अब, अनेकान्त को सर्न।
ताही के अनुसार करि, शुभपयोग आचर्न।।३९।।

ताको फल साच्छात लहि, पुन्यरूप सुखवृन्द।
परम्परासों मोखपद, पैहै आनन्दकन्द।।४०।।

(१३) गाथा-२५७ मिथ्यादृष्टि को सर्वज्ञ कथित पदार्थों में कारण विपरीतता और फल विपरीतता

अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु परिसेसु।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु।।२५७।।

अर्थात् जिन्होंने परमार्थ को नहीं जाना है, और जो विषय-कषाय में अधिक हैं, ऐसे पुरुषों के प्रति सेवा, उपकार या दान कुदेवरूप में और कुमनुष्यरूप में फलता है।

मनहरण

शुद्ध परमातम पदारथ को जानै नाहिं,
ऐसे जे अज्ञानी जीव जग में बखाने हैं।
जाके उर विषय कषाय भूरि भूरि रह्यौ,
ऐसे जगजन्त को जो गुरुकरि माने हैं।।
तिन्हैं भक्ति भावसेती सेवें अति प्रीति धारि,
आहारादि दान दै हरष हिय आने हैं।
ताको फल भोगैं सो कुदेव कुमनुष होय
रुलैं जग जाल में सो मूरख अयाने हैं।।४१।।

आतमीक ज्ञान वीतराग भाव जाके नाहिं,
तथा याकी कथा हू न रुचै रंच भरी है।
मिथ्यामत माने नित विषय कषाय राते,
ऐसे को जो गुरु मानि सेवै प्रीति धरी है।।
आहारादि दान है प्रधान पद माने निज,
जाने मूढ़ सही मोहि यही निसतरी है।
दोनों कर्म भार भरे कैसे भवसिंधु तरैं,
पाथर की नाव कहूँ पानीमाहिं तरी है।।४२।।

(१४) गाथा–२५८ कारण की विपरीतता से सत्यार्थ फल सिद्ध नहीं होता

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परुविदा व सत्थेसु।
किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति।।२५८।।

अर्थात् जबकि 'वे विषयकषाय पाप हैं' इस प्रकार शास्त्रों में प्ररूपित किया गया है, तो उनमें प्रतिबद्ध (विषय-कषायों में लीन) वे पुरुष निस्तारक (पार लगानेवाले) कैसे हो सकते हैं?

इन्द्रिनि के भोगभाव विषय कहावैं और,
क्रोधादिक भाव ते कषायरूप वरनी।
इन्हैं सर्व सिद्धान्त में पाप ही मथन बरी,
तथा इन्हैं धारै सोऊ पापी उर धरनी।।
ऐसे पाप भारकरि भरे जे पुरुष ते सु,
-भक्तनि को कसे निसतारें निरवरनी।
आपु न तरेंगे औ न तारेंगे सु भक्तनि को,
दोनों पाप भार भरे भोगैं पाप करनी।।४३।।

दोहा

विषय कषायी जीव को, गुरु करि सेयें मीत।
उत्तम फल उपजै नहीं, यह दिढ़ करु परतीत।।४४।।

(१५) गाथा-२५९ यथार्थ फल का कारण ऐसा जो अविपरीत कारण।

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स।।२५९।।

अर्थात् जिसके पाप रुक गया है, जो सभी धार्मिकों के प्रति समभाववान् है, और जो गुणसमुदाय का सेवन करनेवाला है, वह पुरुष सुमार्ग का भागी होता है। (अर्थात् सुमार्गवान् है)।

मत्तगयन्द

जो सब पाप क्रिया तजिकै, सब धर्मविषैं समता विसतारैं।
ज्ञान गुनादि सबै गुन को, जो अराधत साधत है श्रुतिद्वारैं।।
होंहिं सोई शिवमारग के, वर सेवनहार मुनीश उदारैं।
आपु तरैं भवि को भव तारहिं, पावन पूज्य त्रिलोकमझारैं।।४५।।

(१६) गाथा-२६० उसे ही विशेष समझाते हैं

असुभोवओगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो।।२६०।।

अर्थात् जो अशुभोपयोगरहित वर्तते हुए शुद्धोपयुक्त अथवा शुभोपयुक्त होते हैं, वे (श्रमण) लोगों को तार देते हैं; (और) उनके प्रति भक्तिवान जीव प्रशस्त (पुण्य) को प्राप्त करता है।

मनहरण

अशुभोपयोग जो विमोह रागदोष भाव,
तासतैं रहित होहि मुनी निरग्रंथ है।
शुद्ध उपयोग की दशा में केई रमैं केई,
शुभ उपयोगी मथैं विवहार मंथ है।।
तेई भव्य जीवनि को तारैं हैं भवोदधि तैं,
आपु शिवरूप पुन्यरूप पूज पंथ है।
तिनही की भक्तितैं भविक शुभथान लहैं,
ऐसे चित चेत वृन्द भाषी जैनग्रंथ है।।४६।।

(१७) गाथा-२६१ यथार्थ कारण-कार्य की उपासनारूप प्रवृत्ति सामान्य-विशेषतया करने योग्य है

दिट्ठा पगडं वत्थुं अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो।।२६१।।

अर्थात् प्रकृत वस्तु को देखकर (प्रथम तो) अभ्युत्थान आदि क्रियाओं से (श्रमण) वर्तो; फिर गुणानुसार भेद करना,—ऐसा उपदेश है।

माधवी

तिहि कारनतैं गुन उत्तमभाजन, श्रीमुनि को जब आवत देखो।
तब ही उठी वृन्द खड़े रहिकै, पद वंदि पदांबुज की दिशि पेखो।।
गुनवृद्ध विशेषने की इहि भांति, सदीव करो विनयादि विशेखो।
उपदेश जिनेश को जान यही, विध सों वरतों चहुसंघ सरेखो।।४७।।

(१८) गाथा-२६२ श्रमणों के योग्य प्रवृत्ति का निषेध नहीं है

अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं।
अंजलिकरणं पणमं भणिदमिह गुणाधिगाणं हि।।२६२।।

अर्थात् गुणों में अधिक (श्रमणों के प्रति) अभ्युत्थान, ग्रहण (आदर से स्वीकार), उपासन (सेवा), पोषण (उनके अशन, शयनादि की चिन्ता), सत्कार (गुणों की प्रशंसा), अञ्जलि करना (विनयपूर्वक हाथ जोड़ना) और प्रमाण करना यहाँ कहा है।

मनहरण

आवत विलोकि खड़े होय सनमुख जाय,
आदरसों आइये आइये ऐसे कहिक।
अंगीकार करिकै सु सेवा कीजै वृन्दावन,
और अन्न पानादिसों पोखिये उमहि कै।।
बहुरि गुननि की प्रशंसा कीजे विनयसों,
हाथ जोरे रहिये प्रनाम कीजै ठहिकै।
मुनिमहाराज वा गुनाधिक पुरुषनिसों,
याही भाँति कीजे श्रुतिसीखरीति गहिकै।।४८।।

(१९) गाथा-२६३ श्रमणाभासों के प्रति सर्व प्रवृत्तियों का निषेध ही है

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं।।२६३।।

अर्थात् श्रमणों के द्वारा सूत्रार्थ विशारद (सूत्रों के और सूत्रकथित पदार्थों के ज्ञान में निपुण) तथा संयम-तपज्ञानाढ्य, (संयम, तप और आत्मज्ञान में समृद्ध) श्रमण अभ्युत्थान, उपासना और प्रणाम करने योग्य हैं।

छप्पय

जे परमागम अर्थमाहिं, परवीन महामुनि।
अरु संजम तप ज्ञान आदि, परिपूरित हैं पुनि।।
तिनहिं आवतौ देखि, तबहि मुनिहूकहँ चहिये।
खड़े होय सनमुख सुजाय, आदर निरबहिये।।
सेवा विधि अरु परिनाम विधि, दोनों करिवो जोग है।
है उत्तम मुनिमगरीति यह, जहँ सुभावसुखभोग है।।४९।।

दोहा

दरवित जे मुनि भेष धरि, ते हैं श्रमनाभास।
तिनकी विनयादिक क्रिया, जोग नहीं है भास।।५०।।

(२०) गाथा-२६४ श्रमणाभास

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे।।२६४।।

अर्थात् सूत्र, संयम और तप से संयुक्त होने पर भी यदि (वह जीव) जिनोक्त आत्मप्रधान पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता तो वह श्रमण नहीं है—ऐसा (आगम में) कहा है।

रूपक कवित्त

संजम तप सिद्धान्त सूत्र, इनहू करि जो मुनि है संजुक्त।
जो जिनकथित प्रधान आतमा, सुपरप्रकाशतैं वर शुक्त।।
तासु सहित जे सकल पदारथ, नहिं सरदहैं जथा जिनउक्त।
तब सो मुनि न होय यह जानो, है वह श्रमनाभास अजुक्त।।५१।।

(२१) गाथा-२६५ सच्चे श्रमणों के प्रति जो द्वेष रखे, आदर न रखे उनका नष्टत्त्व

अववदि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो।।२६५।।

अर्थात् जो शासनस्थ (जिनदेव के शासन में स्थित) श्रमण को देखकर द्वेष से उसका अपवाद करता है और (सत्कारादि) क्रियाओं के करने में अनुमत (प्रसन्न) नहीं है उसका चारित्र नष्ट होता है।

मत्तगयन्द

श्री जिनशासन के अनुसार, प्रवर्ततु हैं जे महामुनिराई।
जो तिनको लखि दोष धरैं, अनआदरतैं अपवाद कराई।।
जो विनयादि क्रिया कही वृन्द, करै न तहां सो सुहर्ष बढ़ाई।
सो मुनि चारितभ्रष्ट कहावत, यों भगवंत भनी सुनि भाई।।५२।।

(२२) गाथा-२६६ स्वयं गुणों में हीन हैं फिर भी अधिक गुणी ऐसे श्रमणों के पास विनय की चाहना रखते हैं, वह कैसा?

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी।।२६६।।

अर्थात् जो श्रमण गुणों में हीन होने पर भी 'मैं भी श्रमण हूँ' ऐसा मानकर अर्थात् गर्व करके गुणों में अधिक (ऐसे श्रमण) के पाप से विनय (करवाना) चाहता है वह अनन्त संसारी होता है।

द्रुमिला

अपने गुनतैं अधिक जे मुनी, गुन ज्ञान सु संजम आदि भरै।
तिनसों अपनी विनयादि चहै, हम हू मुनि हैं इमि गर्व धरै।।
तब सो गुनधारक होय तऊ, मुनि मारगतैं विपरीत चरै।
वह मूढ़ अनन्त भवावलि में, भटकै न कभी भवसिंधु तरै।।५३।।

(२३) गाथा-२६७ यदि जो श्रमण, श्रमण से अधिक तो है ही फिर भी अपने से हीन के प्रति विनय आदि बराबरी जैसा करे तो उसका विनाश।

अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता।।२६७।।

अर्थात् जो श्रामण्य में अधिक गुणवाले हैं, तथापि हीनगुणवालों के प्रति (वन्दनादि) क्रियाओं में वर्तते हैं, वे मिथ्या उपयुक्त होते हुए चारित्र से भ्रष्ट होते हैं।

मत्तगयन्द

आपु विषैं मुनि के पद के गुन, हैं अधिके उतकिष्ट प्रमानै।
सो गुनहीन मुनीनन की, जो करै विनयादि क्रिया मनमानै।।
तो तिनके उरमाहिं मिथ्यात, -पयोग लसै लखि लेहु सयानै।
है यह चारितभ्रष्ट मुनी, अनरीति चलै जतिरीति न जानै।।५४।।

दोहा

विनय भगत तो उचित है, बड़े गुनिनि की वृन्द।
हीन गुनिनि को वन्दतैं, चारित होत निकन्द।।५५।।

(२४) गाथा-२६८ असत्संग का निषेध

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि।।२६८।।

अर्थात् जिसने सूत्रों और अर्थों के पद को—अधिष्ठान को (अर्थात् ज्ञातृतत्त्व को) निश्चित किया है, जिसने कषायों का शमन किया है, और जो अधिक तपवान् है—ऐसा जीव भी यदि लौकिकजनों के संसर्ग को नहीं छोड़ता, तो वह संयत नहीं है (अर्थात् असंयत हो जाता है)।

कवित्त-मात्रिक

जद्दिप जिनसिद्धांत सूत्रकरि, जानत है निहचै सब वस्त।
अरु कशाय उपशमकरि जो मुनि, करत तपस्या अधिक प्रशस्त।।
जो न तजै लौकिक जनसंगति, तो न होय वह मुनि परशस्त।
संगरंग तैं भंग होय व्रत, यातैं तजिय कुसंगत रस्त।।५६।।

दोहा

जैसे अगिनि मिलापतैं, शीतल जल ह्वै गर्म।
तैसे पाय कुसंग को, होय मलिन शुभ कर्म।।५७।।

तातैं तजो कुसंग मुनि, जो चाहो कुशलात।
बसो सुसंगत सुमुनि के, जुतविवेक दिनरात।।५८।।

कही कुसंगत की कथा, बहुत भाँति श्रुतिमाहिं।
विषय [१]गरल सम त्यागि तिहि, चलो सुसंगति छाहिं।।५९।।

१- विष।

(२५) गाथा-२६९ लौकिकजन का लक्षण

णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तो वि।।२६९।।

अर्थात् जो (जीव) निर्ग्रन्थरूप से दीक्षित होने के कारण संयमतपसंयुक्त हो उसे भी, यदि वह ऐहिक कार्यों सहित वर्तता हो तो, 'लौकिक' कहा गया है।

द्रुमिला

निरग्रन्थ महाव्रतधारक हो करि, जो इहि भाँति करै करनी।
वरतै इस लौकिक रीतिविषैं, करै [१]वैदक [२]जोतिक [३]मंतरनी।।
वह लौकिक नाम मुनी कहिये, परिभ्रष्ट दशा तिसकी वरनी।
तपसंजमसंजुत होय तऊ, न तरै भवसागर दुस्तरनी।।६०।।

दोहा

लौकिक जनमन मोद के, जेते विविध विधान।
तिनमें वरतै लगनजुत, सो लौकिक मुनि जान।।६१।।

ताकी संगति को तजहिं, उत्तम मुनि परवीन।
जातैं संगति दोषतैं, सज्जन होय मलीन।।६२।।

(२६) गाथा-२७० सत्संग (विधेय है) जो करनेयोग्य है

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं।।२७०।।

अर्थात् (लौकिकजन के संग से संयत भी असंयत होता है) इसलिए यदि श्रमण दुःख से परिमुक्त होना चाहता हो तो वह समान

१- वैद्यक। २- ज्योतिष। ३- मन्त्रविद्या।

गुणोंवाले श्रमण के अथवा अधिक गुणोंवाले श्रमण के संग में सदा निवास करो।

छप्पय

तिस कारन मुनि को कुसंग, तजिकै यह चहियत।
निज गुन के समतूल होहि, कै अधिक सु महियत?।।
तिन मुनि की सतसंगमाहिं, तुम बसौ निरन्तर।
जो सब दुखतैं मुक्ति दशा, चाहो अभिअन्तर।।
समगुन मुनि की सतसंग तैं, होय सुगुनरच्छा परम।
गुनवृद्ध मुनिनि की संगतैं, बढ़ै सुगुन आतमधरम।।६३।।

दोहा

जल में शीतल गुन निरखि, ताकी रच्छाहेत।
शीत भौन के कौन में, राखहिं सुबुध सचेत।।६४।।

यह समान गुन की सुखद, संगति भाषी मीत।
अब भाषों गुन अधिक के, सतसंगति की रीत।।६५।।

जैसे बरफ कपूर पुनि, शीत आदि संजोग।
होत नीर गुन शीत अति, यह गुन अधिक नियोग।।६६।।

काव्य (मात्रा २४)

तातैं जे मुनि महामोख, -सुख के अभिलाखी।
तिनको यह उपदेश, सुखद है श्रुति की साखी।।
तजि कुसंग सरवथा, सुपथ में चलो बुधातम।
बसो सदा सतसंगमाहिं, साधो शुद्धातम।।६७।।

मनहरण

प्रथम दशा में शुभ उपयोगसेती,
उतपन्न जो प्रवृत्ति वृन्द ताको अंगीकार है।
पीछे सों से संजम की उतकिष्टताई करि,
परम दशा को अवधारो बुद्धिधार है।।
पाछें सर्व वस्तु की प्रकाशिनी केवलज्ञाना,
–नन्दमई शास्वती अवस्था जो अपार है।
ताको सरवथा पाय अपने अतिन्द्री सुख,
तामें लीन होहु यह पूरो अधिकार है।।६८।।

माधवी

तिस कारनतैं समुझाय कहों, मुनि वृन्दनि को सतसंगति कीजे।
अपने गुन के जे समान तथा, परधान मुनीनि की संग गहीजे।।
जदि चाहत हौ सब दुःखनि को खय, तो यह सीख सु सीस धरीजे।
नित वास करो सतसंगतिमाहिं, कुसंगति को सु जलंजलि दीजे।।६९।।

दोहा

ज्यों जुग मुकता सम मिलत, कीमत होत महान।
त्यों सम सतसंगत मिलत, बढ़त सुगुन अमलान।।७०।।

ज्यों पारस संजोगतैं, लोह कनक ह्वै जाय।
[१]गरल [२]अमिय सम गुनधरत, उत्तम संगति पाय।।७१।।

जैसे लोहा काठ संग, पहुँचै सागर पार।
तैसे अधिक गुनीनि संग, गुन लहि तजहि विकार।।७२।।

ज्यों मलयागिरि के विषैं, बावन चन्दन जान।
परसि [३]पौन तसु और तरु, चन्दन होंहिं महान।।७३।।

१– विष। २– अमृत। ३– हवा।

त्यों सतसंगति जोग तैं, मिटै सकल अपराध।
सुगुन पाय शिवमग चलै, पावै पद निरुपाध।।७४।।

देख कुसंगति पाय के, होहिं सुजन सविकार।
अगिनि-जोग जिमि जल गरम, चन्दन होत अँगार।।७५।।

[१]छीर जगत जन पोषिकै, करत [२]वीजदुति गात।
सोई अहिमुख परत ही, हालाहल ह्वै जात।।७६।।

तातैं बहुत कहों कहा, जे ज्ञाता परवीन।
ते थोरे ही में लखहिं, संग रंग की बीन।।७७।।

दुर्जन को उपदेश यह, निष्फल ऐसें जात।
पाथर पर को मारिबो, चोखे तीर नसात।।७८।।

तातैं निजहित हेत को, गहन करहिं बुधिधार।
हंस पान [३]पय को, करत, जिमि तजि वारिविकार।।७९।।

यों मत चित में जानियौ, मुनिकहँ यह उपदेश।
श्रावक को तो नहिं कह्यो, मूल ग्रन्थ में लेश।।८०।।

मुनि के मिष सबको कह्यो, न्याय रीति निरबाह।
जिहि मग में नृप पग धरै, प्रजा चलै तिहि राह।।८१।।

ऐसो जानि हिये सदा, जिन आगम अनुकूल।
करो आचरन हे भविक, करम जलैं ज्यों तूल।।८२।।

परम पुन्य के उदय तैं, मिल्यौ सुघाट सुजोग।
अब न चूक भवि वृन्द यह, नदी नाव संजोग।।८३।।

सकल ग्रन्थ को मंथ के, पन्थ कह्यो यह सार।
कुन्दकुन्द गुरुदेव सो, मोहि करो भव पार।।८४।।

१- दूध। २- बिजली जैसी कान्ति। ३- दूध।

जयवन्तो वरतौ सदा, श्री सरवज्ञ उदार।
जिन भाष्यौ यह मुकतिमग, श्रीमत प्रवचनसार।।८५।।

यह मुनि शुभ आचार को, पूर्ण भयो अधिकार।
सो जयवन्तो होहु जग, रविशशि की उनिहार।।८६।।

मंगलकारी जगत गुरु, शुद्ध सिद्ध अरहन्त।
सो याही मगतैं किये, सकल करम को अन्त।।८७।।

तातैं परम पुनीत यह, जिनशासन सुखकन्द।
वृन्दावन सेवत सदा, दायक सहजानन्द।।८८।।

❀ ❀ ❀

अथ पञ्चरत्नतत्त्वस्वरूपो लिख्यते

मंगलाचरण-दोहा

पंच परमपद वंदिकैं, पंच रतन को रूप।
गाथा अरथ विलोकिकैं, लिखों सुखद रसकूप।।८९।।

मानो इस सिद्धान्त के, एई पांचों रत्न।
मुकुटसरूप विराजहीं, उर धरिये जुत जत्न।।९०।।

अनेकान्त भगवन्तमत, ताको जुत संक्षेप।
दरसावत है रतन यह, नय प्रमान निक्षेप।।९१।।

और यही संसार थिति, मोक्षस्थिति विरतन्त।
प्रगट करत हैं तासुतैं, होहु सदा जयवन्त।।९२।।

पंच रतन को नाम अब, सुनो भविक अभिराम।
उर सरधा दिढ़ धारिकै, वेगि लहो शिवधाम।।९३।।

छप्पय

प्रथम तत्त्व संसार, मोक्ष दूजो पुनि जानो।
मोक्षतत्त्व साधक तथैव, साधन उर आनो।।
सर्वमनोरथ सुखद, -थान शिष्यनि को वरनी।
शास्त्रश्रवण को लाभ, तुरित भवसागर तरनी।।
यह पंचरतन इस ग्रन्थ में, सकल ग्रन्थ मथि के धरे।
वृन्दावन जो सरधा करै, सो भाव करि शिवतिय वरे।।९४।।

(१) गाथा-२७१ संसारतत्त्व

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं।।२७१।।

अर्थात् जो भले ही समय में हों (भले ही वे द्रव्यलिंगी के रूप में जिनमत में हों) तथापि वे 'यह तत्त्व है (वस्तुस्वरूप ऐसा ही है)' इस प्रकार निश्चयवान वर्तते हुए पदार्थों को अयथार्थरूप से ग्रहण करते हैं (जैसे नहीं हैं, वैसा समझते हैं), वे अत्यन्त फल समृद्ध (अनन्त कर्मफलों से भरे हुए) ऐसे अब से आगामी काल में परिभ्रमण करेंगे।

छप्पय

जो मुनिमुद्रा धारि, अर्थ अजथारथ पकरी।
जथा गोह गहि भूमि, तथा हारिलने लकरी।।
जो हम निश्चय किया, सोइ है तत्त्व जथारथ।
इमि हठसों एकान्त, गहै वर्जित परमारथ।।
सो भमै अगामी काल में, पंच परावर्तन करत।
दुखफल अनन्त भोगत सदा, कबहुँ न भवसागर तरत।।९५।।

दोहा

मिथ्याबुद्धि विकारतैं, जे जन अज्ञ अतीव।
अजथारथ ही तत्त्व गहि, हठजुत रहत सदीव।।९६।।

जद्दिय मुनिमुद्रा धरैं, तद्दिप मुनि नहिं सोय।
सोई संसृत तत्त्व है, इहाँ न संशय कोय।।९७।।

ताको फल परिपूर्ण दुख, पंच पराव्रतरूप।
भमैं अनन्ते काल जग, यों भाषी जिनभूप।।९८।।

और कोइ संसार नहिं, संसृत मिथ्याभाव।
जिन जीवनि के होय सो, संसृततत्त्व कहाव।।९९।।

(२) गाथा-२७२ मोक्षतत्त्व

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो।।२७२।।

अर्थात् जो जीव यथार्थतया पदों का तथा अर्थों (पदार्थों) का निश्चयवाला होने से प्रशान्तात्मा है और अयथाचार (-अन्यथा आचरण, अयथार्थ आचरण) रहित है, वह सम्पूर्ण श्रामण्यवाला जीव अफल (-कर्मफल रहित हुए) इस संसार में चिरकाल तक नहीं रहता (-अल्पकाल में ही मुक्त होता है।)

अनंग शेखर-दण्डक

मिथ्या अचार टारिके जथार्थ तत्त्व धारिके,
विवेक दीप वारिके स्वरूप जो निहारई।
प्रशान्त भाव पायके विशुद्धता बढ़ाय पुव्व,
-बन्ध निर्जराय के अबन्ध रीति धारई।।

न सो भमै भवावली तरै सोई उतावली,
सोई मुनीश को पदस्थ पूर्णता सुसारई।
यही सु मोखतत्त्व है त्रिलोक में महत्त है,
सोई दयानिधान भव्य वृन्द को उघारई।।१००।।

दोहा

जो परदरवनि त्यागि कै, है स्वरूप में लीन।
सोई जीवनमुक्त है, मोक्षतत्त्व परवीन।।१०१।।

(३) गाथा-२७३ उनका साधनतत्त्व

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठा।।२७३।।

अर्थात् सम्यक् (यथार्थतया) पदार्थों को जानते हुए जो बहिरंग तथा अन्तरंग परिग्रह को छोड़कर विषयों में आसक्त नहीं हैं, वे 'शुद्ध' कहे गये हैं।

मनहरण

सम्यक प्रकार जो पदारथ को जानतु है,
आपा पर भेद भिन्न अनेकान्त करिकै।
इन्द्रिनि के विषै मैं न पागै औ परिग्रह,-
पिशाच दोनों भाँति तिन्हें त्यागै धीर धरिकै।।
सहज स्वरूप में ही लीन सुखसैन मानो,
करम कपाट को उघारै जोर भरिकै।
ताही को जिनिन्द मुक्त साधक बखानतु हैं,
सोई शुद्ध साध ताहि बंदों भर्म हरिकै।।१०२।।

दोहा

ऐसे सुपरविवेकजुत, लसैं शुद्ध जे साध।
मोखतत्त्वसाधक सोई वर्जित सकल उपाध।।१०३।।

(४) गाथा–२७४ उन शुद्धोपयोगी को सर्व मनोरथ के स्थान के रूप में अभिनन्दन (प्रशंसा)

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स।।२७४।।

अर्थात् शुद्ध (शुद्धोपयोगी) को श्रामण्य कहा है, और शुद्ध को दर्शन तथा ज्ञान कहा है, शुद्ध के निर्वाण होता है; वही (शुद्ध ही) सिद्ध होता है; उसे नमस्कार हो।

मनहरण

शुद्ध वीतरागता सुभाव में जु लीन शिव,
–साधक श्रमन सोई मुनिपदधारी है।
ताही सु विशुद्ध उपयोगी के दरश ज्ञान,
भाषी है जथारथपने सों विसतारी है।।
फेर ताही शुद्ध मोखमारगी मुनीश ही के,
निराबाध मोख की अवस्था अविकारी है।
सोई सिद्धदशा में विराजै ज्ञानानन्दकन्द,
निरद्वन्द वृन्द ताहि वन्दना हमारी है।।१०४।।

दोहा

मोक्षतत्त्वसाधन यही, शुद्धुपयोगी साध।
सकलमनोरथसिद्धिप्रद, शुद्ध सिद्ध निरबाध।।१०५।।

(५) गाथा-२७५ अब आचार्यदेव शिष्यजनों को शास्त्र-फल के साथ जोड़ते हुए शास्त्र पूर्ण करते हैं

बुज्झदि सासणमेदं सागारणगारचरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि।।२७५।।

अर्थात् जो साकार-अनाकार चर्या से युक्त वर्तता हुआ इस उपदेश को जानता है, वह अल्प काल में ही प्रवचन के सार को (भगवान आत्मा को) पाता है।

छप्पय

जो यह शासन भलीभाँति, जानै भवि प्रानी।
श्रावक मुनि आचार, जासुमधि सुगुरु बखानी।।
सो थोरे ही कालमाहिं, शुद्धातम पावै।
द्वादशांग को सारभूत, जो तत्त्व कहावै।।
मुनि कुन्दकुन्द जयवन्त जिन, यह परमागम प्रगट किय।
वृन्दावन को भव उदधितैं, दै अवलम्ब उधार लिय।।१०६।।

द्वादशांगश्रुतिसिंधु, मथन करि रतन निकासा।
सुपरभेदविज्ञान, शुद्ध चारित्र प्रकासा।।
सो इस प्रवचनसार माहिं, गुरु वरनन कीना।
अध्यातम को मूल, लखहिं अनुभवी प्रवीना।।
मुनि कुन्दकुन्द कृत मूल जु सु, अमृतचन्द टीका करी।
तसु हेमराज ने वचनिका, रची अध्यातमरस भरी।।१०७।।

मनहरण

दोइ सौ पछत्तर पराकृत की गाथामाहिं,
कुन्दकुन्द स्वामी रची प्रवचनसार।

अध्यातमवानी स्यादवाद की निशानी जातैं,
सुपरप्रकाशबोध होत निरधार है।।
निकट-सुव्य ही के भावभौनमाहिं याकी,
दीपशिखा जगै भगै मोह अन्धकार है।
मुख्य फल मोख औ अमुख्य शक्रचक्रिपद,
वृन्दावन होत अनुक्रम भव पार है।।१०८।।

अथ कवि व्यवस्था लिख्यते

छप्पय

अगरवाल कुल गोल, गोत वृन्दावन धरमी।
धरमचन्द जसु पिता, शितावो माता परमी।।
तिन निजमतिमित वाल, ख्याल सम छन्द बनाये।
काशी नगर मंझार, सुपर हित हेतु सुभाये।।
प्रिय उदयराज उपगारतैं, अब रचना पूरन भई।
हीनाधिक सोधि सुधारियौ, जे सज्जन समरसमई।।१०९।।

मनहरण

वाराणसी आरा ताके बीच बसै वारा,
सुरसरि के किनारा तहां जनम हमारा है।
ठारैं अड़ताल माघ सेत चौदै सोम पुण्य,
कन्या लग्न भानुअंश सत्ताइस धारा है।।
साठेमाहिं काशी आये तहां सतसंग पाये,
जैनधर्ममर्म लहि भर्म भाव हारा है।
सैली सुखदाई भाई काशीनाथ आदि जहाँ,
अध्यातमवानी की अखण्ड बहै धारा है।।११०।।

छप्पय

प्रथमहिं आढ़तराम, दया भोपै चित लाये।
सेठी श्री सुखलालजीयसों, आनि मिलाये।।
तिनपै श्री जिनधर्ममर्म, हमने पहिचाने।
पीछे वकसूलाल मिले, मोहि मित्र सयाने।।
अवलोके नाटकत्रयी पुनि, औरहु ग्रन्थ अनेक जब।
तब कविताई पर रुचि बढ़ी रचो छन्द भवि वृन्द अब।।१११।।
सम्वत विक्रमभूप, ठारसौ त्रेशठमाहीं।
यह सब बानक वन्यौ, मिली सतसंगतिछाहीं।।

तब श्री प्रवचनसार, ग्रन्थ को छन्द बनावों।
यही आश उर रही, जासुतैं निजनिधि पावों।।
तब छन्द रची पूरन करी, चित न रुचि तब पुनि रची।
सोऊ न रुची तब अब रची, अनेकान्त रससों मची।।११२।।

❀ ❀ ❀

अथ ग्रन्थपरिसमाप्तिमङ्गल

दोहा

[1]वन्दों श्रीसरवज्ञ जो, निरावरन निरदोष।
विघ्नहरन मंगलकरन, मनवांछित सुख पोष।।११३।।
पंचपरमगुरु को नमो, उर धरि परम सनेह।
भवदधितैं भवि वृन्द को, पार उतारत तेह।।११४।।
जिनवानी जिनधर्म को, वन्दों वारम्वार।
जिस प्रसादतैं पाइये, ज्ञानानन्द अपार।।११५।।
सज्जनसों कर जोर के, करों वीनती मीत।
भूल चूक सब सोधिकैं, शुद्ध कीजियौ रीत।।११६।
यामें हीनाधिक निरखि, मूलग्रन्थ को देखि।
शुद्ध कीजियो सुजनजन, बालबुद्धि मम पेखि।।११७।।
यह मुनि शुभचारित्र को, पूर्ण भयो अधिकार।
सो जयवन्त रहो सदा, शशि सूरज उनिहार।।११८।।

❀ ❀ ❀

अथ कविवंशावली लिख्यते

काव्य–२४ मात्रा

मार्गशीर्ष गत दोय, और पन्द्रह अनुमानो।
नारायन विच चन्द्र, जानि औ सतरह जानो।।

१– यह दोहा छन्द शतक में भी है।

इसी बीच हरिवंश, लाल बाबा गृह जाये।
नाम सहारूसाह, साहजू के कहलाये।।११९।।

बाबा हीरानन्दसाह, सुन्दर सुत तिनके।
पंच पुत्र धनधर्म, - वान गुनजुत थे इनके।।
प्रथमे राजाराम, बवा फिर अभैराज सुनु।
उदयराज उत्तम सुभाव, आनन्दमूर्ति गुनु।।१२०।।

भोजराज औ जोगराज पुनि, कहे जानिये।
इन पितु लग काशी, निवास अस सुखद मानिये।।
अब बाबा खुशहाल, -चन्द्र सुत का सुनु वरनन।
सीताराम सु ज्ञानवान, बंदों तिन चरनन।।१२१।।

ददा हमारे लालजीय, कुल औगुन खण्डित।
तिन सुत मो पितु धर्मचन्द, सब शुभजसमण्डित।।
तिनको दास कहाय, नाम मो वृन्दावन है।
एक भ्रात औ दोय, पुत्र मोकों यह जन है।।१२२।।

महावीर है भ्रात नाम, सो छोटा जानो।
ज्येष्ठ पुत्र को नाम, अजित इमि करि परमानो।।
मगसिर सित तिथि तेरस, काशी में तब जानो।
विक्रमाब्द गत सतरहसै, नव विदित सु मानो।।१२३।।

[१]मो लघु सुत है शिखरचन्द, सुन्दर सुत ज्येष्ठ को।
इमि परिपाटी जानिये, कह्यो नाम लघु श्रेष्ठ को।।

पद्धरी

संवत चौरानू में सु आय। आरेतैं परमेष्ठीसहाय।।
अध्यातमरंग पगे प्रवीन। कविता में मन निशिद्यौस लीन।।१२४।।

१- इन दो तुका में दो-दो मात्रायें अधिक हैं। और यह छन्द दोनों प्रतियों में आधा है।

सज्जनता गुनगरुवे गम्भीर। कुल अग्रवाल सु विशाल धीर।।
ते मम उपगारी प्रथम पर्म। साँचे सरधानी विगत भर्म।।१२५।।
भैरवप्रसाद कुल अग्रवाल। जैनी जाती बुधि है विशााल।।
सोऊ मोपै उपकार लीन। लखि भूल चूक सो शोध दीन।।१२६।।

छप्पय

सीताराम पुनीत तात, जसु मात हुलासो।
ज्ञात लमेचू जैनधर्म, कुल विदित प्रकासो।।
तसु कुलकमलदिनित, भ्रात मम उदयराज वर।
अध्यातमरस छके, भक्त जिनवर के दिढ़तर।।
ते उपगारी हमको मिले, जब रचना में भावसों।
तब पूरन भयो गिरंथ यह, वृन्दावन के चावसों।।१२७।।

दोहा

चार अधिक उनईससौ, संवत विक्रम भूप।
जेठ महीने में कियो, पुनि आरंभ अनूप।।१२८।।
पाँच अधिक उनईससौ, धवल तीज वैशाख।
यह रचना पूरन भई, पूजी मन अभिलाख।।१२९।।

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत परमागम श्रीप्रवचनसारजी मूल गाथा ताकी संस्कृतटीका श्री अमृतचन्द्राचार्य ने करी ताकी देशभाषा पांडे हेमराजजी ने रची है, ताही के अनुसारसों वृन्दावन अग्रवाल गोइलगोती ने भाषा छन्द रची तहां यह मुनिशुभचारित्राधिकार समाप्तं।

सर्वगाथा २७५ दोय सौ पचहत्तर भाषा के छन्द सर्व १०९४ एक हजार चौरानवे भये सो जयवंत होहु। श्रीरस्तु मंगलमस्तु–सं. १९०५ सर्व भाषा के छन्द ११६२ अंकेय ग्यारहसै बासठ भये–

(इह मूल ग्रन्थकर्त्ता के हाथ की प्रथम प्रति लिखी है सो सदा जयवन्त प्रवर्तो)